The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

सूचना के अधिकार का औचित्य तथा न्यायिक सक्रियता

अजय कुमार,
शोध छात्र–राजनीति विज्ञान विभाग,
तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय जौनपुर, उत्तर प्रदेश

सारांश

भारत देश की आजादी के बाद अबतक के गणतन्त्रीय जीवन में राजनीति सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक रूप से अनेको बार झटके और उतार चढ़ाव देखने के बावजूद लोकतन्त्र की सफलता बढ़ा प्रमाण है। अब हम अपनी आवश्यकताओं के लिये निर्भर नहीं है। अनेको कठिनाइयों और जटिलताओं के बावजूद हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की अपनी उपलब्धियाँ है जो अपने आप में ही अहमियत रखती है। सूचना व आम आदमी से इसका सरोकारसूचना व आम आदमी से इसका सरोकार सूचना व आम आदमी से इसका सरोकार सूचना के अधिकार की महत्ता साधारण लोगों के जीवन से जुड़ा हुआ है। जिन्दा रहने के लिए जानना बहुत आवश्यक है इसलिए कहा जाता है कि सूचना एक शास्त्र एक पहेली, एक समाधान भी है। अगर देखा जाये तो सूचना में बहुत अधिक शक्ति है। इसलिए उसे गुप्त रखने का हर सम्भव कोशिश की जाती है। सही, शीघ्र और स्पष्ट सूचना बहुत से रहस्यों को उजागर कर सकती है।

हम अपने बचपन में माँ को सूचना दिये बगैर घर से कहीं बाहर चले जाते थे, चाहे खेलने या स्कूल के लिए ही या किसी कार्य की वजह से तो माँ बहुत डाँटती और कहती की तुम बताकर क्यों नहीं गये? जब हमारे इन रिश्तों को निभाने के लिये सूचना देना इतना आवश्यक है, तो हम अपना अस्तित्व बनाने के लिए या अपनी पहचान कायम करने के लिये इस दुनिया के भीड़–भाड़ में फंसे हुये है। कहीं हमारे ऊपर कर्तव्य का बोझ होता है, तो कही अधिकार हमे व्याकुल कर देता है, तो कही जीवन यापन की समस्या खड़ी हो जाती है और कही राष्ट्रचिन्तन हमे झकझोरता है। इन सभी चीजों से गुजरते हुये हमें बार–बार

ऐसा महसूस होता है कि काश हमें ये जानकारी होती या किसी जरूरी सूचना के ना मिलने की वजह से हमें हानि का सामना करना पड़ सकता है। आम आदमी ने अपनी बदहाल स्थिति में सैंकड़ों बार समझौता किया है क्योंकि वह आवश्यक जानकारी प्रारम्भ करने में असफल रहा, या तो इस बात से अंजान रहा की इस मुद्दे से जुड़ी जानकारी भी प्राप्त की जा सकती है। इन विपरीत परिस्थितियों में वह अपने उचित अधिकारों को हासिल करने के मामले में भी छला जाने लगा। सूचना प्राप्त करना तब उनकी मजबूरी बन गयी, वह सूचना न प्राप्त करे तो क्या छला ही जाता रहे, भलें ही वह गरीब ही क्यों न हो?

गाँव के कृषक को इतना पता ही होना चाहिए कि गाँव की राशन वाली दुकान में दाल का क्या मूल्य है? कोटा लगभग किस तिथि को आता है? मिट्टी का तेल क्यों नहीं हैं? ग्राम पंचायत की खुली बैठक का विवरण क्यों नहीं तैयार किया है? या गाँव के किसी भी विधवा महिला की पेंशन का प्रकरण किस स्थिति में है? इन सभी मुद्दों को जानने का अधिकार हैं लोगों को2 ये जानकारियाँ ही है जो आम आदमी और खास आदमी में अंतर पैदा करती हैं। जिसके पास जानकारी हैं यह खास बन गया और जो जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता वह पीछे हो गया। बात केवल पिछड़ने तक नहीं रह जाती बल्कि यह व्यक्ति के वजूद तक जाती हैं। जानकारी की कमी व्यक्ति के अस्तित्व के लिए खतरा बन जाता है। जाहिर है कि जन प्रतिनिधियों,

बुद्धिजीवियों, पत्रकारों के लिए जानने के अधिकार के अनेक आयाम और अर्थ हो सकते हैं, लेकिन भारत के गाँवों के वाशिंदो, गरीब कृषकों और मजदूरों के लिए यह वजूद की चीज है। दिहाड़ी पर काम करने वाले किसी भूमिहीन किसान के लिए तो यह जीने–मरने का प्रश्न हैं। ग्राम की जनता अगर यह चाहे कि उनके विकास के लिए जो पैसा आया हैं, वह कहाँ और किस तरह से खर्च हुआ? उसे कौन हड़प गया? गाँव के कल्याण के लिए जो सड़क, पुलिया, हैण्ड पम्प, कुआँ, स्कूल बनाने की बात की गई थी। वे निर्मित क्यों नहीं हुए? जितनी भी विकास और कल्याण की योजनाएँ लाई गई है, वो सभी केवल सरकारी कागजों पर ही क्यों रह जाती हैं?

सूचना का अधिकार केवल, गाँव किसान से ही जुडा हुआ नहीं है, बल्कि शहरी नागरिक के जीने से भी जुड़ा हुआ हैं, जो यह जानकारी प्राप्त कर पाए कि रोजगार, चिकित्सा सिंचाई, पेयजल, विद्युत व सामाजिक सुरक्षा इत्यादि क्षेत्रों में सरकार द्वारा निर्धारित लोक कल्याणकारी योजनाएँ, नियम प्रावधान क्या है? और उन्हें विशाल सरकारीतन्त्र कैसे निष्पादित कर रहा है।

शासन तन्त्र में पारदर्शिता की पहल ———

भारत विश्व का सबसे वृहद लोकतांत्रिक देश हैं पर यह विडम्बना ही है कि यहाँ लोकतन्त्र के नाम पर क्षेत्रीयवाद, परिवारवाद सदैव से ही राजनीति पर हावी रहा हैं। आज देश को आजाद हुए 62 साल हो गए लेकिन देश की सत्ता एक ही परिवार के आस–पास मँडराती हुई नजर आती हैं। त्याग और बलिदान के भ्रामक इतिहास के नाम पर सत्ता प्राप्त ताकतों ने देश की कितनी प्रगति की है, यह तो समय बतायेगा, पर इन परिवारों का इतिहास यदि आम जनता के समक्ष रखा जाये तो यह समझना किसी के लिए कठिन नहीं होगा कि उन्होंने कैसा आर्थिक विकास किया है।

बीते 50 वर्षों की ही बात करे तो इस देश में दो ही प्रधानमंत्री ऐसे रहे जिन्होंने परिवारवादी मानसिकता को बदलने के लिये अथक प्रायास किया। जिसमें से सबसे पहले स्व० पी०वी० नरसिंहराव द्वारा विदेशी विनिवेश को आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक नीतियों में उदारीकरण करके किया गया और वहीं दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अटल बिहारी वाजपेयी के आगवानी वाली सरकार (एन०डी०ए०) ने किया। अटल ने आर्थिक उदारीकरण की नीतियों में भी सरलता लाने की कोशिश की। सर्वप्रथम किसी सरकार द्वारा देश को जोड़ने वाली सड़को पर कोई बड़ी परियोजना को जोडने वाली सड़को पर कोई बड़ी परियोजना को कारगर रूप में लाने का साहस किया। इसी के साथ ही सूचना और प्रौद्योगिकी क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्यों की शुरूआत हुई। देश के लोगों को संसदीय गतिविधियों से रूबरू होने की सुविधा देने वाले प्रसार भारतीय कानून का निर्माण करने का योगदान एन०डी०ए० सरकार का ही है।

भारतीय राजनीति के शुरूआती 10 वर्ष केवल प्रयोग पर ही केन्द्रित रहे। ऐसा हो सकता है कि यह उस समय की माँग रही हो लेकिन अब हमें यह आवश्यकता है कि अपने संसाधनों का समुचित उपयोग करना होगा। इसलिए अब जो भी नीतियाँ निर्मित की जाये या कार्य किये जाये वे निर्धारित लक्ष्यों के रूप में एक निश्चित समय के अन्दर पूरा करना होगा। ऐसा करके ही हम विश्व के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सकते है और इसके लिये हमारी देश की राजनीतिक मानसिकता में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। हम सभी को क्षेत्रियवाद, परिवारवाद और जातिगत संकीर्णता के मापदण्डो से बाहर निकल कर मानवतावादी दृष्टिकोण को अपना कर देश में शिक्षा उद्योग और सूचना प्रौद्योगिकी में सम्पूर्ण पारिदर्शित लाने की आवश्यकता है। ऐसा ही एक प्रयास सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 है।

सूचना के अधिकार के अन्तर्गत देश का प्रत्येक नागरिक सरकार के किसी भी कार्य योजना की सम्पूर्ण जानकारी कुछ निश्चित किये गये आवेदन के माध्यम से निश्चित समय अन्तराल में प्राप्त किया जा सके यह कानून जनता के लिये देश में स्वेच्छाचारी प्रशासन और भ्रष्टाचार पर रोक लगाने में एक महत्वपूर्ण औजार के रूप में है लेकिन देश की अधिकतर जनता का शैक्षिक स्तर और विचार, क्षमता इस प्रभावशाली हथियार का उपयोग करने के लिये कितनी समर्थ है यह आने वाले समय में पता चलेगा।

प्रधानमंत्री डॉ० मनमोहन सिंह ने यह आशा करते हुये कहा था की इस विधेयक के पारित होने से भ्रष्टाचार पर अंकुश लगेगा जिससे जनप्रतिनिधियों और सरकारी कर्मचारी की जवाबदेही बढ़ेगी और हमारा शासन अधिक पारदर्शी होगा। लोकतन्त्र में पारदर्शिता आने से माहौल में बदलाव सम्भव हो सकता है। सूचना के अधिकार के तहत जानकारी प्रदान करने के लिये अलग–अलग स्तरों पर प्रकोष्ठ बनाये गये है संघ और राज्य स्तर पर आयुक्तों को नियुक्त किया गया है। जो जनता को सम्पूर्ण जानकारी निर्धारित समय के अन्दर उपलब्ध कराने के जिम्मेदार होंगे इस कानून के तहत अगर किसी आवेदन कर्ता को भ्रामक या गलत जानकारी देने या जानकारी देने में देरी या तो टाल–मटोल करता है। तो उसके विरूद्ध कठोर कार्यवाही भी किया जा सकता है।

भारत के लोगों में सूचना के अधिकार कानून की उपयोगिता समझने में अभी काफी समय लगेगा क्योंकि भारत ऐसा देश है जहाँ पर हर कोस पर भाषा एवं संस्कृति में विभिन्नता है। यहाँ पर एक समान नागरिक संहिता का अभाव है देखा जाये तो परिवारवादी, सत्ता के लालची लोगों ने इस मुद्दे को अच्छे से सोच समझ कर जटीलतम बनाये हुये है और इसी को राजनीति का आधार स्तम्भ भी बना दिये है किसी देश की सरकार का कार्य उस देश के नागरिकों की जीवन यापन से जुड़ी समस्याओं के समुचित निवारण कि व्यवस्था के सूचारु प्रबन्धन का है। इसके लिये अनुभवी और प्रशिक्षित जनता और जनप्रतिनिधियों की जरूरत है।

आज राजनीतिक माहौल में जो भी गिरावट हो रही है, वो निजी स्वार्थों की पूर्ति करने का ही कारण हैं। क्षेत्रियतावाद, सम्प्रदायवाद और आतंकवाद जैसी समस्याओं पर अगर गौर किया जाए तो यह निजी हितों की राजनीति करने का ही परिणाम हैं।

अगर शिक्षा को जिज्ञासा के आधार पर एवं अत्यधिक खर्चा के बोझ से मुक्त अर्थात मुफ्त शिक्षा तथा रुचि के आधार पर शिक्षा देकर ही हम लोगों को योग्य एवं सुरक्षित बना सकेंगे।

इसमें कोई शक नहीं है कि आर०टी०आई० कानून भ्रष्टाचार पर नकेल कसने का एक वैकल्पिक हथियार है, लेकिन भारतीय जनता के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने में बहुत अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 न्यायिक सक्रियता ———

भारत का संविधान लागू होने के बाद से सन् 1997 तक सूचना का अधिकार से जुड़ी किसी भी कानून की कमी रही हैं, लेकिन न्यायपालिका ने अपनी न्यायिक सक्रियता का प्रयोग करते हुए कई ऐसे निर्णय प्रदान किए है, जो सूचना के अधिकार को नागरिकों को देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। न्यायपालिका के निर्णयों को कई भागों में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता हैं–

1– सूचना का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में भारत के संविधान में सूचना के अधिकार से जुड़ा उपबन्ध नहीं हैं, लेकिन न्यायालय निर्वचन करके इसे अनुच्छेद 19(1) क में शामिल बताया है। भारत के संविधान के अंतर्गत अनुच्छेद 19(1)क में प्रत्येक व्यक्ति को वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गई

हैं, इसके साथ यह अनुच्छेद 19 (2) के निर्वधनों के अधीन है। उच्चतम न्यायालय ने बेनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड बनाम भारत संघ–197320 में बताया है कि सूचना का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 19 (1)क के अंतर्गत दिए गए वाक एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में शामिल है।

सुप्रीम कोर्ट ने इंडियन एक्सप्रेस न्यूज पेपर्स बनाम भारत संघ 21 में यह कहा कि स्वतंत्रता निम्नलिखित चार उद्देश्यों को पूरा करता है–

(क) स्वतंत्रता से ही व्यक्ति की आत्मोन्नति संभव हो सकती है।

(ख) सत्य की खोज में सहायता प्रदान करती हैं।

(ग) स्वतंत्रता के माध्यम से ही व्यक्ति को निर्णय लेने की क्षमता मजबूत होती है।

(घ) स्थिर एवं परिवर्तित समाज में सामंजस्य बनाने में सहायता प्रदान करता है।

उच्चतम न्यायालय ने प्रभादत्त बनाम भारत संघ के मामले में कहा कि पत्रकार का सूचना के अधिकार पर पहुँच अर्निबन्धित नहीं हैं। कोई भी पत्रकार कैदी की इच्छा के बगैर उसका साक्षात्कार नहीं ले सकता। यह जेल के मैनुअल के आधार पर ही होगा।22 शीला बार्से बनाम भारत संघ23 के मामले में उच्चतम न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों 24 का आधार देते हुए कहा कि जेल में मानवीय स्थिति हो, लेकिन ऐसी स्थिति के लिए पत्रकारों को कैदी के वाक एवं अभिव्यक्ति के तहत ही दिया गया हैं इसके लिए जेल मैनुअल अनुच्छेद 19 (2) और अनुच्छेद 21 की शर्तों का पालन करना जरूरी हैं।

दिनेश त्रिवेदी बनाम भारत संघ के मामले में मुख्य न्यायाधीश अहमदी ने कहा कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अंतर्गत जन सहभागिता सुनिश्चित होनी चाहिए और जनता को सरकार के द्वारा लिए गए महत्वपूर्ण निर्णयों और उनके आधार से जुडी सूचनाओं की जानकारी रखें। खुला लोकतंत्र की आशा स्वतंत्र समाज की सहवर्ती है, सूर्य का प्रकाश अच्छा असक्रान्ति हैं, लेकिन यह जब आगे बढ़ जाती है, तो खतरनाक भी साबित होती है। खड़कसिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने एकान्तता के अधिकार को भी भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत शामिल किया है, किन्तु यह अधिकार आत्यांतिक अधिकार नहीं हैं तथा इसलिए यह निर्वधन के अधीन होगा।

पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिवर्टीज बनाम भारत संघ के मामले में न्यायाधीश शाह के द्वारा बहुमत के निर्णय को सुनाते हुए कहा कि यह ध्यान देना चाहिए कि संविधान में दिए गए मौलिक अधिकार उदाहरण स्वरूप समानता का अधिकार एवं स्वतंत्रता के अधिकार में कोई निश्चित विषय–वस्तु नहीं है। न्यायालय द्वारा समय–समय पर इस कंकाल के अंदर आत्मा और रक्त से भरा रहता हैं। न्यायालय 50 वर्षों से ज्यादा समय से अनुच्छेद 14. 19 एवं 21 का समय–समय पर आवश्यकतानुरूप निर्वचन करके रंग भरा जिससे राष्ट्र वास्तवित रूप से एक गणतंत्रात्मक, लोकतांत्रिक समाज बन सकें।

(2) सूचनाओं एवं दस्तावेजों का प्रकटीकरण–

सूचनाओं और दस्तावेजों के प्रकटीकरण के लिए सुप्रीम कोर्ट के द्वारा समय–समय पर महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। उत्तर प्रदेश बनाम राजनारायण के मामले के सुप्रीम कोर्ट के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि अगर न्यायालय जाँच के बाद यह मानती हैं कि ब्लू बुक या दूसरे दस्तावेज का कोई भी भाग राज्य के मामलों से जुड़ा हुआ नहीं हैं और उसका जनता के समक्ष सार्वजनिक करने पर किसी भी प्रकार से लोकहित को प्रभावित नहीं करेगी, तो उस स्थिति में न्यायपालिका उस भाग को प्रदर्शित (प्रकटीकरण) करने के लिए स्वतंत्र है।

एस०पी० गुप्ता बनाम भारत संघ के बाद में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 123 के तहत दस्तावेजों के प्रकटीकरण के आपत्ति पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं– (1) राज्य से जुड़े मामले, एवं (2) लोकहित को प्रभावित करने वाले मामले।

न्यायालय के द्वारा अपने निर्णयों पर दोनों स्पर्धायुक्त मामले मे सामंजस्य बनाकर पहुँचता हैं।

एस०आर० बोम्मई बनाम भारत संघ के मामले में न्यायाधीशों की संवैधानिक पीठ ने इस ऐतिहासिक निर्णय में यह निर्धारित किया कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय अनुच्छेद 74 (2) के अलावा केन्द्रीय सरकार को उस सामग्री को बताने के लिए बाध्य किया जा सकता है जिसके आधार पर केन्द्रीय मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का परामर्श हैं, क्योंकि 'सामग्री' परामर्श का अंग नहीं है, इसलिए न्यायालय के द्वारा सामग्री की जाँच की जा सकती हैं।30

(3) जानने का अधिकार जानने का अधिकार की शुरूआत 1970 के दशक में विद्वान न्यायाधीश मैथ्यू द्वारा उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनारायण के मामले में निर्णय देते हुए यह कहा कि इस देश के लोगों को प्रत्येक लोक कार्यों के बारे में जानकारी का अधिकार है. वे प्रत्येक लोक संव्यवहारों का उसके प्रभाव के साथ विवरण जानने के हकदारी है।

एस०पी० गुप्ता बनाम भारत संघ के मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा यह निर्धारित किया गया कि अनुच्छेद 19 (1)क में जानने का अधिकार भी शामिल हैं और इसमें सरकार के संचालन से जुड़ी सूचनाएं भी रहती हैं। केवल कुछ मामले अपवाद की श्रेणी में रहते हैं जैसे देश की सुरक्षा एवं लोकहित में जरूरी हो तभी प्रकट नहीं किया जाएगा। लोकतांत्रिक सरकार एक ऐसी खुली सरकार है, जिसके बारे में जनता को जानने का अधिकार होता हैं।

रिलायंस पेट्रोकेमिकल्स लिमिटेड बनाम इण्डियन एक्सप्रेस के विषय में सुप्रीम कोर्ट ने बताया है कि लोकहित के महत्व की बातों का प्रकाशन करने का अधिकार, समाचार पत्रों का पूर्ण अधिकार है तथा उसपर पूर्ण अवरोध नहीं लगाया जा सकता है। नागरिकों का जानकारी रखने का अधिकार अनुच्छेद 21 के तहत दैहिक स्वतंत्रता का अंग है, इसलिए यह मूल अधिकार की श्रेणी में आता है। इसपर वर्तमान और आसन्न खतरे के आधार पर निर्वधन लगाया जा सकता है। ऐसी बातों पर पूर्ण अवरोध प्रेस की स्वतंत्रता का अतिक्रमण करता है. अतः वह असंवैधानिक है।

(4) सूचना के अर्जन एवं प्रसार का अधिकार अनुच्छेद 19 (1)क का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। सेक्रेटरी, मिनिस्ट्री ऑफ इनफारमेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग बनाम क्रिकेट एसोसिएशन ऑफ वेस्ट बंगाल34 में सुप्रीम कोर्ट ने बताया है कि अनुच्छेद 19(1)क में सूचना का अधिकार भी शामिल है। वाक् अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए यह जरूरी है कि नागरिकों को कई दृष्टिकोण एवं लोक मामलों से जुड़े सभी मामलों में विस्तृत विचार रखनी चाहिए।

(5) मतदाताओं के सूचना के अधिकार पर निर्देश –

भारत संघ बनाम एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्मस के मामले में सुप्रीम कोर्ट की तीन सदस्यीय खण्डपीठ (न्यायाधीश एस०बी० शाह, विशेश्वर प्रसाद सिंह एवं एच०के० सेमा) ने अपने निर्णय में कहा कि मतदाता का सूचना का अधिकार वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार जो संविधान के अनुच्छेद 19 (1)क के अंतर्गत एक मूल अधिकार है। न्यायालय ने ऐसा माना है कि एक अच्छे लोकतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि जनता जागरूक हो।

पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिवर्टीज बनाम भारत संघ के ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने तीन सदस्यीय खण्डपीठ (न्यायाधीश एन०वी० शाह, पी०वी० रेड्डी और डी०एम० धर्माधिकारी) के निर्णय भले ही अलग–अलग, लेकिन उन सभी के एक मत वाला निर्णय यह था कि सूचना का अधिकार नागरिकों का मूल अधिकार है अनुच्छेद 19 (1) क के तहत। 36 और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 3337 में जो संशोधन हुआ है, इसे न्यून करता है। अतः यह असंवैधानिक है। न्यायमूर्ति एस०वी० शाह के मतानुसार संसद को इस मामले में कोई भी कानूनी अधिकार नहीं है कि वे राज्य या उसके सहायकों को न्यायालय के निर्णयों की अवहेलना करने का निर्देश दे। क्या मतदाता को यह जानकारी रखने का अधिकार नहीं है कि उसका उम्मीदवार हत्या डकैती या बलात्संग के मामले से जुड़ा हुआ हैं कि नहीं या उसने जो धन कमाया है उसका रास्ता अवैध तो नहीं हैं, जब तक कि नागरिक को अपने उम्मीदवार के पूर्ववृत्त की पूरी जानकारी नहीं होती है।

इस प्रकार उच्चतम न्यायालय का उपर्युक्त निर्णय स्वीकार योग्य है। इससे भारतीय लोकतंत्र को मजबूत स्थिति।

सूचना का अधिकार एवं पर्यावरण – पर्यावरण की समस्याओं के निवारण के लिए ब्रटलैण्ड आयोग की रिपोर्ट38 रियो घोषणा–10 (पृथ्वी सम्मेलन 1992) के सिद्धान्त 39 एवं जैविक विविधता अभिसमय 1992 के अनुच्छेद 7 40 में पर्यावरणीय समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के विषय में उपबन्धित है। 1980 के दशक की यह अवधारणा और ही अधिक सुदृढ होती जा रही है कि सरकार के दायित्व एवं नागरिकों को सूचना ज्ञात करने के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। सूचना का अधिकार लोकतंत्र में सहभागिकता को बढ़ाने और निर्णय की ग्राह्यता को सुदृढ़ करता है। भोपाल गैस त्रासदी की घटना कही न कहीं सूचना के अभाव में ही इतना भयंकर हो गया था।

रूरल लिटिगेशन एण्ड इनटाइटलमेण्ट केन्द्र, देहरादून बनाम उत्तर प्रदेश राज्य के मामले में विकास और लोगों के व्यापक हितों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता पर विश्वास करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला सुनाया कि पर्यावरण कार्यकर्ता समूह को सूचना ग्रहण करने और निरीक्षण करने तक सीमित अधिकार मिला होता है जिसकी निम्न शर्तें होगी–

1. अधिकार सद्भाव पर्दूक प्रयोग किया जाए,

2 इस आशय के लिए जो भी शुल्क बोर्ड द्वारा निर्धारित किया गया हैं उसकी अदायगी की गई हो औरय

3. कैण्टोनमेण्ट के कार्यकारी अधिकारी को यह अधिकार प्राप्त है, यदि उसे लगता है कि निवेदन का उद्देश्य सही नहीं है या अनुमति देना लोकहित के विरूद्ध होगा, तो वह अनुमति देने से इंकार कर सकता है। **बाम्बे इनवायरमेण्ट एक्शनग्रुप बनाम पुणे कैण्टोनमैक्ट बोर्ड –** के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने सूचना के अधिकार को व्यापक करके सामूहिक कार्यवाही समूह या दबाव समूह के साथ–साथ क्षेत्र में निवास करने वाले सभी लोगों को दिया गया हैं, लेकिन अपवाद स्वरूप केवल सुरक्षा के हित में अनुमति देने से इंकार किया जा सकता है।

रिसर्च फाउण्डेशन फॉर साइन्स टेक्नोलॉजी नेशनल रिसोर्स पॉलिसी बनाम भारत संघ के बाद में आवेदनकर्ता ने वेसेल अभिसमय, 1989 पर विश्वास करते हुए परिसंकटमय अपशिष्टों के विषय से जुड़े असावधानी के संबंध में याचिका दायर किया। भारत भी इस अभिसमय का पक्षकर्त्ता है। इस मामले में सुप्रीम कोर्ट ने यह फैसला सुनाया कि वेसेल अभिसमय अनुच्छेद 21 को प्रभावकारी बनाता है और जिसके अनुसार

पर्यावरण संरक्षण एवं मानव स्वास्थ्य संरक्षण में अनुच्छेद 21 में सूचना प्राप्त करने एवं सामुदायिक भागीदारी का सिद्धान्त उत्पन्न होता है। पर्यावरण से जुड़ी सूचनाएँ आज की बहुत ही महत्वपूर्ण आवश्यकता है, क्योंकि आज इस औद्योगिक युग में पर्यावरण सुरक्षा के लिए लोगों को उचित जानकारी और उनका सहयोग आवश्यक है।

निष्कर्ष–

सूचना के अधिकार लागू होने से शासन द्वारा जो विकास होता है। पारदर्शिता एवं जनता तक पूर्ण रूप से लाभ मिलता है।

सूचना के अधिकार जनता में जानकारी उपलब्ध कराती है। जो कि गांव में कितना विकास कार्य के लिए पैसा आता है।

प्रधानमंत्री डॉ0 मनमोहन सिंह ने यह आशा करते हुए कहा था कि इस विधेयक के पारित होने से भ्रष्टाचार पर अंकुश लगेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ– सूची–

- मीडिया विमर्श सितम्बर 2006 / फरवरी 2007।
- मोहन, अरविन्द 2009 पत्रकार, पत्रकारिता प्रशिक्षण नई दिल्लीः सामयिक प्रकाशन।
- मेरे आदेश जलेबी की तरह घूम रहे हैं– रावत पब्लिश दिसम्बर 2014 www.jagran.com सर्च समय 8.12.
- मलहोत्रा, रसा 2007 हिन्दी पत्रकारिता कल आज और कल दिल्लीः संजय प्रकाशन।
- योजना, फरवरी 2006।
- यश्वन्त गहलौत, मीडिया विमर्श दिसम्बर 2006 / फरवरी 2007।
- रिर्पोट और प्रतिवेदन।
- रिर्पोटर्स विदाउट बॉडर्स की वार्षिक रिपोर्ट, फ्रांस।
- राय, ठीके 2007 आधुनिक विज्ञापन और जनसम्पर्क दिल्ली लोक सांस्कृति प्रकाशन।
- रायत, जयसिंह 2015 स्वाधीनता आंदोलन में उत्तराखंड की पत्रकारिता देहरादूनः विनसर पब्लिकेशन।
- रजिस्ट्रार ऑफ न्यूजपेपर्स फार इण्डिया की वार्षिक रिर्पोट।
- राप. ठी. के. 2007 आधुनिक विज्ञापन और जनसम्पक्र दिल्ली नेहा पुस्तक केन्द्र लोक सस्कृति।
- रावत, डॉ0 अजय सिंह 2015 उत्तराखंड का समग्र राजनैतिक इतिहास देहरादून अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।
- राजेन्द्र 2011 लोक सम्पर्क पंचकूला हरियाणा साहित्य अकादमी

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

WATER POLLUTION AND ITS EFFECTS: A LEGAL REVIEW

Abdul Wahab
Assistant Professor
Department of Law
A.P.N.PG College, Basti (U.P)

ABSTRACT:
This article explores the critical role of water as a life-sustaining element in the biosphere and examines the escalating crisis of water pollution driven by industrialization and population growth. Water is the fundamental pillar of the biosphere, serving as the primary medium for life maintenance and the essential vehicle for nutrient cycling. However, the rapid acceleration of industrial expansion and population growth has led to a severe degradation of water quality globally. It defines water pollution as the harmful alteration of water's physical, chemical, and biological properties and identifies two primary origins: ***Natural sources*** *(erosion, volcanic activity) and* ***Anthropogenic sources*** *(urban, industrial, and agricultural activities).It details the parameters used to assess water quality, including* ***BOD (Biological Oxygen Demand)****,* ***COD (Chemical Oxygen Demand)****, and* ***pH levels****. It further categorizes pollution into surface water, lake water, sea water, and groundwater pollution, highlighting specific phenomena such as* ***leachates*** *in groundwater and* ***oil slicks*** *in oceans. It also provides a multifaceted analysis of water pollution, beginning with its definition as the harmful alteration of physical, chemical, or biological water characteristics. It distinguishes between Natural sources, such as volcanic eruptions and soil erosion, and Anthropogenic sources, which constitute the primary threat through industrial effluents, urban sewage, and agricultural runoff. It highlights specific ecological disasters, such as* ***"MINAMATA DISEASE"*** *caused by mercury dumping and* ***"ASBESTOSIS"*** *resulting from lake contamination. Furthermore, it addresses the "hidden" crisis of groundwater pollution via leachates pollutants that percolate through soil into aquifers. A significant portion of the discourse is dedicated to the* ***Indian Judiciary's role*** *in environmental protection. Through landmark cases such as M.C. Mehta vs. Union of India[1] and Municipal Council, Ratlam vs. Vardichand[2], it also illustrates how the courts have enforced industrial accountability and municipal duties. Finally, it outlines the* ***Constitutional framework****, specifically* ***Articles 48A and 51-A(g)****, and explains how the Supreme Court has expanded the* ***Right to Life (Article 21)*** *to encompass the right to a wholesome and pollution-free environment. A significant portion focuses on the Indian Legal Framework, tracing the evolution of environmental jurisprudence. It examines how public interest litigation (PIL) has been used to hold industries and municipal bodies accountable, as seen in the landmark M.C. Mehta and Ratlam Municipality Cases. Finally, it highlights the constitutional transition of environmental protection from a Directive Principle (Article 48A) and a Fundamental Duty (Article 51-A(g)) to a Fundamental Right under the expanded interpretation of Article 21 (Right to Life).*

KEY WORDS:
Water pollution, Ecosystem, Legal Review, Soil erosion, Volcanic eruption, Nutrient Cycling, Aquifers, Siltation, Biosphere, Contaminants, Anthropogenic, Littoral Ecosystems, Leachates, Surface runoff, Oil Slicks, Eutrophication, Dissolved Oxygen, Biological Oxygen Demand,

Chemical Oxygen Demand, Turbidity, pH Value, Coliform MPN, Public Interest Litigation, Riparian Owner, Judicial Activism, Coastal Regulations Zone, Minamata Disease, Asbestosis, Point pollution, Non-point Pollution.

INTRODUCTION:

Water is the most important element in the biosphere because on one hand it is vital for the maintenance of all forms of life and on the other hand it helps in the movement, circulation and cycling of nutrients in the biosphere. Water is also essential for power generation, navigation, irrigation of crops, disposal of sewage etc. Increasing population and industrial expansion has degraded the quality of water considerably.

Water pollution may be defined as "alteration in physical, chemical, biological characteristics of water which may cause harmful effects on human and aquatic life[3]."

"Water pollution" means such contamination of water or such alteration of the physical, chemical or biological properties of water or such discharge of any sewage or trade effluent or of any other liquid, gaseous or solid substance into water (whether directly or indirectly) as may or is likely to, create a nuisance or render such water harmful or injurious to public health or safety, or to domestic, commercial, industrial, agricultural or other legitimate uses, or to the life and health of animals or plants or of aquatic organisms[4].

The substances which degrade the quality of water are called water pollutants. The water pollutants are created from two basic sources e.g. (i) Natural sources -of water pollutants include soil erosion, landslides, coastal and cliff erosion, volcanic eruption and decay and decomposition of plants and animals. (ii)Anthropogenic sources-it is the anthropogenic sources which are the real sources of water pollution. The anthropogenic sources of water pollution include industrial source, urban source, agricultural source etc.

Urban source contributes water pollutants such as sewage, huge quantity of municipal and domestic garbages, industrial effluents from the industrial units located in the urban centres, fallout of particulate matter of automobile exhausts etc.

Industrial sources pollute streams, rivers, lakes and coastal waters through industrial effluents, solid and dissolved chemical pollutants and numerous metals. Besides, fallout of radioactive substances is very dangerous source of air and water pollution.

Various types of chemical used in the chemical fertilizers, pesticides and herbicides etc. are the pollutants which are derived from agricultural sources. These chemicals substances are brought to the rivers and lakes through surface runoff caused by rainfall and are also moved downward by infiltrating rainwater to reach groundwater.

The water pollution is assessed on the basis of certain parameters e.g. (i) Physical parameter, (ii)Chemical parameter and (iii)Biological parameters. Physical parameters used to ascertain the quality of water include temperature, colour, odour, turbidity, conductivity, density, suspended, dissolved and total solids.Chemical parameters include nature and amount of soluble salts, hardness of water, acidity and alkalinity of water, dissolved oxygen (DO), biological oxygen demand (BOD), chemical oxygen demand (COD), concentration of hydrogen ion (pH), amount of ammonia ,nitrate and nitrites, amount of heavy metals, mercury, lead, chromium, chlorides, pesticides, insecticides, detergents etc. Biological parameters are bacteria, coliform MPN, algae, viruses etc. Generally, biological oxygen demand (BOD), chemical oxygen demand (COD), dissolved oxygen (DO),coliform MPN and pH value are important indicators of water quality.

Water pollution may be divided on the basis of sources and storage of water into (a) surface water pollution, (b) lake and sea water pollution, and(c) groundwater pollution. Water pollution may also be divided on the basis of sources of water pollution e.g. (a) sewage pollution, (b) domestic waste pollution, (c)industrial waste water pollution, (d) solid waste pollution etc.

A. Surface Water Pollution:

Surface water includes river water, lake water, and pond water. The major sources of river water pollution are industries, urban centres, agriculture and other human activities. Discharges of urban sewage water, industrial effluents carrying industrial waste water, washing and dumping of industrial solid wastes, non-degradable and long lasting pollutants from lather tanneries, sugar factories, meat packing, distilleries etc. into nearby rivers pollute the water of streams and rivers.

River pollution is caused in two ways e.g.(i) point pollution and (ii) non point pollution. The main sources of point pollution of river waters are industries and urban centres wherein pollutants are discharged into the rivers through urban sewage drains and industrial effluents at specific points (outfall points) at the river banks. Non-point pollution of river water involves discharge of pollutants mainly from agricultural fields through surface runoff.

Increasing urbanization and industrial expansion are responsible for the release of enormous quantities of pollutants of various kinds through sewage effluents into the rivers and lakes and thus contaminating the water beyond permissible safety level. Most of the Indian rivers receiving urban and industrial effluents are heavily polluted due to point pollution at least and downstream of the big cities and industrial centres.

M.C. Mehta Vs Union Of India[5]

Where in a public interest litigation owners or some of the tanneries discharging effluents from their factories in Ganga and not setting up a primary treatment plant in spite of being asked to do so for several years did not care in spite of notice to them even to enter appearance in the Supreme Court to express their willingness to take appropriate steps to establish the pre-treatment plants it was held that so far as they were concerned and order directing them to stop working their tanneries should be passed.

It was observed that the effluent discharged from a tannery is ten times noxious when compared with the domestic sewage water which flows into the river from any urban area on its bank.

It was further observed that the financial capacity of the tanneries should be considered as irrelevant while requiring them to establish primary treatment plants. Just like an industry which cannot pay minimum wages to its workers cannot be allowed to exist, a tannery which cannot set up a primary treatment plant cannot be permitted to continue to be in existence for the adverse effect on the public at large.

M.C. Mehta Vs Union Of India[6]

The petitioner had filed writ petition for prevention of nuisance caused by the pollution of the river Ganga. No doubt, the petitioner is not a riparian owner. He is a person interested in protecting the lives of the people who make the use of the water flowing in the river Ganga and his right to maintain the petition cannot be disputed. The nuisance caused by the pollution of the river Ganga is a public nuisance which is widespread in range and indiscriminate in its effect and it would not be reasonable to expect any particular person to take proceedings to stop it as distinct from the community at large. The petition was, therefore, entertained as a public interest litigation.

On the facts in the circumstances of the case the view of the Supreme Court the petitioner is entitled to move this court in order to enforce the statutory provisions which impose duties on the municipal authorities and the Boards constituted under the Water Act.

On account of their failure to obey the statutory duties for several years the water in the river Ganga at Kanpur has become so much polluted that it can no longer be used by the people either for drinking or for bathing. The Nagar Mahapalika of Kanpur has to bear the major responsibility for the pollution of the river near Kanpur city.

Municipal Council, Ratlam Vs. Vardichand[7]

Residents of a locality within limits of Ratlam municipality tormented by stench and stink caused by open drains, moved the Magistrate under Section 133 of Criminal Procedure Code to require Municipality to do its duty towards the members of the public. In this case the main problem was that the open dreams carrying filth and dirty water of alcohol plant emanating obnoxious smell was flowing openly through the inhabited area, polluting the environment and providing a breeding place to mosquitoes. Another problem was that half constructed drain was also passing through the locality and its filthy water was overflowing, accumulating in the pits, providing obnoxious smell making the breathing difficult and also harming the foundation of houses. Drains in the locality were not proper where in the water could flow smoothly. The Magistrate gave directions to Municipality to draft a plan within six months for removing nuisance. The High Court and Supreme Court affirmed the magistrate's order.

B. Lake And Sea Water Pollution:

Lakes are also polluted through natural and anthropogenic sources. Siltation of lakes due to dumping of enormous quantities of sediments derived through accelerated rate of soil erosion caused by rapid rate of deforestation in hilly source areas of the streams is the major form of anthropogenic source of lake pollution.

Washing and dumping of tailings or waste sludges from factories into stagnant water of lakes and tanks pollute them more than they pollute the rivers because the river is mobile while the lake water in most cases is stagnant. If the concentration of a single matter becomes very high, it may become a killing factor and the water so contaminated may turn into "killing water". For example, increase in the concentration of asbestos in the lake water causes lung cancer in human beings and the killer disease is called "ASBESTOSIS".

Inorganic nutrients from the agricultural fields are also brought to the lakes by surface runoff, rivulets, streams and rivers. Besides nitrates, phosphates an organic matters are contributed by sewage treatment plants. Similarly, toxic chemicals from factories enter the lake water. The abundance of nutrients causes uncontrolled growth of plants and animals while increased concentration of toxic chemicals causes deaths of aquatic organisms resulting into considerable decrease in lake populations.

Sea water is polluted mostly near the coast through the disposal of urban and industrial waste matters into the coast water. Concentration of a single matter in the littoral water causes serious environmental problems. For example, concentration of mercury in the Minamata Bay (Japan) due to dumping of mercury rich sludges from Minamata city into the bay caused severe mercury-poisoning. The resultant disease known as "MINAMATA DISEASE" claimed several lives in the city of Japan in early 1950s. Dumping of industrial wastes, urban effluents and toxic chemicals into the coastal water leaves adverse effects on many marine organisms.

Leakage of immense quantities of crude oil from oil tankers and offshore oil wells is a major source of sea water pollution. Leaked crude oil rapidly spreads on water surface as Oil Slicks and makes the water poisonous with the result numerous sea organisms including invaluable fishes die. Thus, oil leakage causes ecological disaster in the coastal ecosystem.

Ambuga Petrochemicals Ltd. Vs. A.P. Pollution Control Board[8]

Effluent treatment plant of industry was not in operation and the effluence were discharged, joining in tank thereby causing water pollution in the tank resulting in danger to public life. The High Court of A.P. held that the order by authorities directing closure of industry was not shockingly disproportionate an excessively severe.

S.Jagannath Vs. Union Of India[9]

In this case the Supreme Court held that the shrimp culture industry is neither "directly related to water front" nor "directly needing foreshore facilities". The setting up of shrimp culture farms within the prohibited areas under the Coastal Regulations Zone (CRZ) Notification cannot be permitted to operate.

C. Groundwater Pollution:

Groundwater is polluted through a variety of sources viz. leaching and downward movement of pollutants from agricultural field (such as nitrates, phosphorus, potash and several insecticides and pesticides),from industrial dumping areas, from urban and rural garbages, from earthen septic tanks and from polluted ponds and tanks. The dissolved chemical pollutants are moved downward with percolating water (the process known as leaching) to meet the groundwater resource and thus groundwater is polluted which is readily reflected in the polluted water of dug-wells. Similarly, pollutants are least downwards from the municipal dump sites of city garbages. The pollutants which move downward with percolating water are called leachates. The leached pollutants are seldom stationary in the groundwater rather they move in the aquifers with the movement of groundwater as guided by groundwater contour.

Several cases of pollution of groundwater mainly the water drawn up by hand pumps and from wells have been reported almost from all countries of the world whether developed or developing. The recent incident of pollution of groundwater due to toxic chemicals discharged by Patancheru industrial complex, about 30 kilometres away from Hyderabad city, in the Medak district of Andhra Pradesh is a burning example of pollution of groundwater by human activities. Underground cavities caused by excessive pumping of water from groundwater reserves in the cities located near the Sea coast result in contamination of groundwater because of leakage of saline sea water into the cavities.

Effects Of Water Pollution:

Water pollution causes irreparable damage to both plants and animals including man.The most sufferers are human beings and micro-organisms. Polluted water is the major cause for the spread of epidemics and several dangerous diseases such as cholera, tuberculosis, jaundice, dysentery, typhoid, paratyphoid, diarrhoea etc. The use of water polluted with solid minerals for drinking purpose causes fatal diseases. For example, the consumption of water contaminated by fibres as asbestos causes lung cancer and stomach diseases called as ASBESTOSIS; water polluted with mercury causes MINAMATA DISEASE etc. Water pollution mainly caused by toxic chemicals causes deaths of aquatic organisms including both plant and animals. The use of polluted water of rivers, lakes and ponds and even polluted groundwater for irrigating agricultural fields severely damages crops and decreases agricultural production. Heavily polluted water also pollutes soils,

decreases their fertility and kills soils micro-organisms such as useful bacteria. The use of water contaminated with salts increases alkalinity in the soils. On the other hand, increase in the concentration of toxic chemicals and harmful metals in different water bodies causes elimination of plants in general and animals in particular due to their sudden death. Contamination of seawater due to oil slicks resulting from leakage of crude oil from huge oil tankers and due to discharge of industrial and urban wastes causes ecological disasters in the littoral ecosystems because of mass death of sea organisms including fishes.

Constitutional Provisions:

Environmental Protection and improvement where explicitly incorporated into the Constitution by the Constitution (Forty-Second Amendment) Act of 1976.The Constitution (Forty-Second Amendment) Act,1976 introduced Article 48A in Part IV which provides that "the state shall endeavour to protect and improve the environment and to safeguard the forests and wild life of the country." The Provision though not enforceable in a court, directs the State to enact legislation and frame policies towards attaining these goals.

The Constitution (Forty-Second Amendment) Act,1976 also introduced Article 51-A(g) in Part IV A of the Constitution. Article 51-A(g) provides that "it shall be the duty of every citizen of India to protect and improve the natural environment including forests, lakes, rivers and wildlife and to have compassion for living creatures". Thus the state now is under a moral duty to take measures to prevent ecological imbalances resulting from modern industrialization. The constitution has also cast a duty on the citizen to take steps for maintaining ecological balance.

The Indian Courts have embraced judicial activism in developing environmental jurisprudence. The right to pollution free environment is treated as a fundamental right. The Supreme Court entered one of its most creative periods, specifically, the Court fortified and expanded the fundamental rights enshrined in Part III of the Constitution. In the process the boundaries of the fundamental right to life and personal liberty guaranteed in Article 21 were expanded to include environmental protection.

The Supreme Court strengthened Article 21 in two ways. First, it required laws affecting personal liberty to also pass the tests of Article 14 and Article 19 of the Constitution, thereby ensuring that the procedure depriving a persona of his or her personal liberty be reasonable, fair and just. Second, the Court recognised several unarticulated liberties that were implied by Article 21. It is by this second method that the Supreme Court interpreted the right to life and personal liberty to include the right to a wholesome environment.

CONCLUSION:

Water pollution represents a profound threat to the ecological balance and public health. As the primary medium for nutrient cycling and life maintenance, the degradation of water through toxic chemicals, sewage, and industrial effluents creates a "killing water" effect that devastates both aquatic ecosystems and human populations. This article underscores that while natural pollutants exist, human activity remains the most destructive force, leading to irreversible conditions like **ASBESTOSIS** and **MINAMATA DISEASE**. The legal analysis reveals a shift from mere statutory compliance to a fundamental rights based approach. The Indian judiciary has established that, **Industrial viability** cannot be used as an excuse for environmental degradation (the "pay or close" principle).**Environmental protection** is a mandatory duty of the State and a fundamental responsibility of every citizen. **Article 21** of the Constitution is a dynamic tool that now guarantees the right to a clean environment as an essential component of human dignity. Ultimately, the survival of the biosphere depends on a rigorous intersection of scientific monitoring, industrial responsibility, and active judicial oversight to ensure that water remains a source of life rather than a vector for disease. The evidence presented underscores that water pollution is not merely an environmental concern but a direct threat to the survival of the biosphere. The transition of water from a life giving resource to "killing water" through the concentration of toxic chemicals and heavy metals illustrates a catastrophic failure in managing industrial and urban growth. It concludes that the damage caused by pollutants ranging from the destruction of soil fertility to the outbreak of epidemics like cholera and typhoid is often irreparable. The specialized mention of **Oil Slicks** and littoral ecosystem disasters emphasizes that even the vastness of the oceans is not immune to human negligence. From a legal perspective, the conclusion is drawn that the "financial capacity" of an industry is no longer a valid defence for polluting activities. The Indian Judiciary, through active intervention, has established a clear hierarchy: the public's right to a clean environment supersedes private commercial interests. The integration of **Articles 14, Article 19, and Article 21** ensures that environmental protection is not a secondary policy goal but a mandatory constitutional requirement. Ultimately, it suggests that solving the water crisis requires a dual approach. First, there must be a scientific adherence to water quality parameters (Dissolved Oxygen DO, Biological Oxygen Demand BOD, and pH) to monitor health. Second, there must be a robust enforcement of the "Polluter Pays" principle and municipal accountability. The incorporation of protection of environment as an obligation of the state and as a mandate to the citizens of India as a part of the fundamental duties is notable indication to the importance of the protection of environment. The Indian Courts have embraced judicial activism in developing environmental jurisprudence. The right to pollution free environment is treated as a fundamental right. In **Municipal Council Ratlam Vs. Vardichand**[10] the Supreme Court has recognised the importance of pollution free environment and gave it the status of a human right. The survival of both human civilization and aquatic microorganisms depends on treating water as a sacred trust, protected by both the state’s legislative power and the citizen’s moral duty, ensuring that the right to a wholesome environment remains a lived reality rather than a legal abstraction.

REFERENCES:

1. AIR 1988 SC 1037
2. AIR 1980 SC 1622
3. Report, 1965, Restoring The Quality Of Our Environment, Presidents Science Advisory Committees, Washington, USA.
4. Section 2(C); Water (Prevention And Control Of Pollution) Act ,1974.
5. AIR 1988 SC 1037
6. AIR 1988 SC 1115
7. AIR 1980 SC 1622
8. AIR 1997 A.P 41
9. AIR 1997 SC 811
10. AIR 1980 SC 1622

BOOKS:-

1. Arvill R; Man and Environment,1967.
2. Bharat Desai; Water Pollution in India: Law and Enforcement,1990.
3. Lal's; Environment Protection and Pollution Laws, 6thEdition 2021.
4. Savindra Singh, "Environmental Geography ",Edition 2015.
5. S.Divan, M.L. Noble and Armen; "Environmental Law And Policy In India",3rd Edition

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

बाल–अपराध के उभरते नये रूप

कृष्ण मुरारी गुप्त
शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग,
सन्त विनोबा पी0जी0 कॉलेज, देवरिया
krishnamurarigupta45@gmail.com

सारांशः

आज बाल–अपराध की समस्या उन प्रमुख समस्याओं में से एक है जो पूरे समाज में दिन प्रतिदिन बढ़ता हुआ दिख रहा है। आज पूरे विश्व में बाल अपराध अपना छाप छोड़ता जा रहा है, बाल–अपराध एक ऐसी समस्या के रूप में उभर रहा है जो भावी समाज को खोखला करने का काम करेगा। एक समय ऐसा था जब बाल–अपराध को एक विचलित व्यवहार के रूप में देखा जाता था और ऐसे बच्चों को नैतिक शिक्षा के माध्यम से सुधारने का काम किया जाता था, पर आज बाल–अपराध अपने नए रूप में तेजी से उभर रहा है। वर्तमान समय में बाल–अपराधी साइबर–अपराध, सोशल–मीडिया आधारित अपराध, नशा, तस्करी और ड्रग अपराध, गैंग कलर और संगठित अपराध यौन–अपराध आदि के क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ रहे हैं जो कहीं ना कहीं पूरे विश्व के लिए खतरा का रूप लेता नजर आ रहा है।

मुख्य शब्द : बाल–अपराध, भावी समाज, खतरा, व्यवहार के नए रूप, सुधार

प्रस्तावना :

21वीं सदी तकनीकि, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का युग है। एक ओर जहाँ विज्ञान और तकनीकि ने मानव जीवन को सरल और आधुनिक बनाया है, वहीं दूसरी ओर इसी बदलते परिवेश ने कई सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है। इन्ही गंभीर सामाजिक समस्याओं में से एक है, बाल–अपराध।

पारंपरिक समान में बाल–अपराध मुख्यतः चोरी, झगड़ा या हल्की शरारतों तक सीमित हुआ करता था, परन्तु आज इसका स्वरूप अत्यधिक बदल गया है। इंटरनेट, सोशल मीडिया, स्मार्ट फोन, हिंसक वीडियों गेम, आर्थिक असमानताएं टूटते परिवार, नशा खोरी बढ़ते तनाव जैसे अनेक कारणों ने बाल–अपराध को एक नया, तकनीकी और संगठित रूप प्रदान किया है। आज बच्चे न केवल पारंपरिक अपराधों में संलिप्त हो रहे हैं, बल्कि वे साइबर क्राइम, वित्तीय धोखाधड़ी गैंग संस्कृति यौन अपराध–सोशल मीडिया अधारित अपराध और ड्रग तस्करी जैसी गंभीर गविविधियों में तेजी से शामिल हो रहे हैं। यह स्थिति समाज के लिए अत्यन्त चिंताजनक है क्योंकि बच्चे किसी भी समाज का भविष्य होते हैं। यदि वे ही अपराध की राह पकड़ लें तो समाज और राष्ट्र का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा। भारत में बाल–अपराध 8 वर्ष से अधिक और 16 वर्ष से कम आयु के बच्चे द्वारा किया गया एक कानून विरोधी कार्य है, जिसे कानूनी कार्यवाही के लिए बाल–न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, लड़कियों के लिए अधिकतम उम्र 18 वर्ष निर्धारित किया गया है।

कोलमैन (1981)– ''ऐसे युवाओं का व्यवहार जो 18 वर्ष से कम आयु के हैं और जिनका आचरण समाज एवं कानून द्वारा अस्वीकार्य माना जाता है तथा जिन पर किसी न किसी प्रकार की चेतावनी दण्ड या सुधारात्मक कार्यवाही की आवश्यकता होती है।''

ऐकलेख (1956)– ''यह शब्द उन सभी कृत्यों पर लागू होता है जो आपराधिक संहिता का उल्लंघन करते हैं और ऐसे व्यवहार के रूप में देखे जाते हैं जिन्हें बच्चों और किशोरों के लिए समाज द्वारा अस्वीकार्य माना गया है।''

बाल–अपराध के उभरते नये रूप :

बाल–अपराध एक सामाजिक अभिशाप है, जिसे विश्व के सभी समाजों में देखा जा सकता है वर्तमान युग में इसके स्वरूपों में बदलाव देखा जा रहा है जो परम्परागत स्वरूपों के अपेक्षा भयावह बदले हुए रूप निम्नलिखित हैं–

1. **साइबर अपराध–** डिजिटल युग में बच्चों की पहुंच मोबाइल, इंटरनेट, सोशल मीडिया और ऑनलाइन गेम्स तक आबाद हो चुकी है। बच्चे तकनीकी रूप से सक्षम हैं, परन्तु अनुभव और नैतिकता का अभाव उन्हें अपराध की ओर धकेल देता है। साइबर अपराध के निम्नलिखित रूप देखे जा सकते हैं–
   - हैकिंग, अकाउंट क्रैकिंग।
   - साइबर बुलिंग और ऑनलाइन बदसूलकी।
   - फेक प्रोफाइल बनाकर धोखाधड़ी।
   - ऑनलॉइन फ्राड OTP/UPI धोखाधड़ी।
   - डीपकेक और तस्वीरों का गलत उपयोग।
   - डाई वेब पर अवैध गतिविधियां।

   उपरोक्त साइबर अपराध में बच्चे बढ़–चढ़कर हिस्सा ले रहे हैं।
2. **सोशल मीडिया आधारित अपराध–** आज सोशल मीडिया में बदलाव देखा जा सकता है जिसमें बच्चे आसानी से अपनी पहुंच बना कर इसका दुर्पयोग कर रहे हैं–
   - खतरनाक स्टेंट करके विडियो बनाना।
   - अपराधों को लाइव स्ट्रीम करना।
   - दूसरों की फोटो/वीडियों मार्क करके ब्लैकमेल करना।
   - फेक–न्यूज और गलत सूचनाएं फैलाना।
   - ट्रोलिंग और ऑनलाइन उत्पीड़न।

   उपरोक्त कृत्यों में बच्चे बढ़–चाढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं।
3. **नशा तस्कीरी और ड्रग अपराध :–**

   आज भारत में भी बच्चे नशा और तस्करी में अपनी प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं जो निम्नलिखित हैं–
   - स्कूल–कॉलेज में ड्रग सप्लाई।
   - ड्रग पैकेट पहुंचाना।
   - ई–सिगरेट, निकोटिन पाउच, बीड, कोकीन इत्यादि का प्रसार उपरोक्त कृत्यों में आज बच्चों का इस्तेमाल किया जा रहा है बच्चें भी बढ़–चढ़ कर हिस्स लें रहे हैं क्योंकि अपराधिक गिरोहों द्वारा इन्हें पैसे इत्यादि का लालच दिया जाता है और इनसे सारे कृत्य कराये जाते हैं।
4. **गैंग कल्चर और संगठित अपरध–**

उत्तर–आधुनिक समाज में फिल्में, वेब सीरिज और सोशल मीडिया ने गैंगस्टर छवि को आकर्षक बना दिया है। किशोर ऐसे पात्रों से प्रभावित हो कर स्थानीय गैंगों में शामिल होने लगे हैं। जिसका स्वरूप निम्नलिखित है–

- गैंग फाइट और झगड़े।

- चाकूबाजी और हथियार बाजी।
- रंगदारी वसूली।
- राहजनी।

उपरोक्त अपराध बच्चों में हिंसा, आक्रामकता सामाजिक असामंजस्य पैदा करते हैं।

5. यौन अपराध–

इन्टरेन्ट पर अश्लील सामग्री की सहज उपलब्धता, गलत संगत और अपरिपक्वता के कारण बच्चों में यौन अपराध बढ़ रहे हैं, जिसके प्रमुख रूप निम्नलिखित है–

- छेड़छाड़।
- यौन उत्पीड़न।
- रिवेंज पोर्न।
- मार्फिंग/अश्लील सामग्री बनाना।
- आनलाइन यौन चैट में हिस्सा लेना।

इन कृत्यों के कारण बच्चों के मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य को गहरा नुकसान पहुँचता है।

6. हिंसक वीडियों गेम और डिजिटल व्यवहार आधारित अपराध– PUBG, Free Fire, GTA Call of Duty जैसे गेम बच्चों को प्रभावित किया है–

- आक्रामकता।
- हिंसक व्यवहार।
- जोखिम भरे प्रयोग।
- चोरी और धोखाधड़ी को बढ़ावा देना।

7. बाइक गैंग, स्नैचिंग और सड़क पर अपराध–

- बच्चे आज निम्नलिखित कार्यों में चढ़–बढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं–
- मोबाइल चोरी।
- चेन स्नैचिंग।
- बाइक से लूट।
- सड़क पर उत्पात करना इत्यादि अपराध बड़े शहरों में विशेष रूप से बढ़े है।

8. आर्थिक और डिजिटल वित्तीय अपराध–

आनाइल भुगतान प्रणाली बच्चों में आर्थिक अपराधों का नया रूप देता है– जो निम्नलिखित हैं–

- यू.पी.आई. फ्राड।
- गेमिंग ऐप में पैसे की चोरी।
- ऑनलाइन जुआ।
- डिजिटल वालेट चोरी।
- फार्जी पेमेंट स्क्रीनशॉट।

उपरोक्त अपराध के जो रूप देखने को मिलते हैं वे आज समाज में अपनी धाक बना चुके है और बाल–मन पर अपना विशेष छाप छोड़ रहे है जिससे बच्चे आज बाल–अपराध की ओर तेजी से अग्रसर होते हुए नजर आ रहे हैं।

बाल–अपराध के बढ़ते कारण :

आज बाल अपराध का दर दिन प्रतिदिन तेजी से बढ़ता हुआ नजर आ रहा है साथ ही साथ इस बढ़ते हुए दर अनेक कारण देखे जा सकते है। जिसमें कुछ नये कारण भी सम्मिलित है।

1. पारिवारिक विघटन और बच्चों की उपेक्षा–

वर्तमान समय में पारिवारिक विघटन का दर तेजी से बढ़ता जा रहा है जिसका प्रभाव बच्चों के उपर प्रत्येक्ष रूप से पड़ रहा है जो बच्चों को गलत कार्य करने के लिए विवश कर रहा है।

2. इन्टरनेट और तकनीकि का अनियंत्रित उपयोग–

वर्तमान समय में इंटरनेट से युक्त मोबाइल बच्चों का नया एवं प्रमुख साथी बन गया है। जिससे सही दिशा–निर्देश न होने पर बच्चे गलत सामग्री, गैंग और अपराध से प्रेरित हो रहे हैं।

3. गलत संगत और साथियों का दबाव–

गलत संगत और साथियों का दबाव बच्चों को अपराध के घेरे में तेजी से ला देते हैं। साहसी दिखने, समूह में स्वीकार्यता पाने और रोमांच की चाह बच्चों को गलत कार्यों की ओर ढकेलती है।

4. आर्थिक असमानता और गरीबी–

आर्थिक असमानता और गरीबी समाज की बुराईयों में से प्रमुख है जो लोगों को गलत कार्यों की ओर ले जाते है, आर्थिक असमानता और गरीबी` बच्चों को बाल–अपराध की ओर ले जा रहे हैं।

5. शिक्षा और नैतिक मूल्यों का अभाव–

उत्तर–आधुनिकता की दौर में शिक्षा और नैतिक मूल्यों में तेजी से ह्रास हुआ है जो सबसे अधिक बच्चों को प्रभावित किया जिससे बाल–अपराध का दर तेजी से बढ़ा है।

6. समाज और सरकार द्वारा अपर्याप्त निगरानी–

यहाँ की कानून हमेशा से अंधा रहा है जो सही को गलत और गलत को सही बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करना रहा है जिससे अपराधी को संरक्षण और निर्दोष को सजा हमेशा से मिलता रहा है, जिससे समाज में गलत संदेश जाता है जो व्यक्ति को गलत कार्य करने के लिए प्रेरित करता है चुकी बच्चे भी इसी समाज के सदस्य होते है जिससे इसका प्रत्येक्ष प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता रहा है जो इन्हे बाल–अपराध करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं।

बाल–अपराध के निवारण के उपाय :

बाल–अपराध के निवारण हेतु निम्नलिखित उपाय सुझाए जा सकते हैं–

1. परिवार की भूमिका–

परिवार व्यक्ति के लिए प्राथमिक पाठशाल होता है बच्चे के उपर उसके परिवार का प्रमुख प्रभाव होता है यहीं से व्यक्तित्व की नींव तैयार होती है। इसलिए परिवार के सदस्यों को चाहिए कि बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाए जिससे बच्चा गलत कार्यों की ओर अग्रसर न हो।

2. विद्यालय की भूमिका–

परिवार के बाद विद्यालय की भूमिका महत्वपूर्ण होती है जिसमें बच्चों को शिक्षित किया जाता है शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बच्चे के उपर सकरात्मक प्रभाव छोड़ और बच्चा गलत कार्य न करे।

3. सामाजिक प्रयास–

समाज की बुराइयों को समुदाय अधारित कार्यक्रम, नशामुक्ति अभियान, युवा क्लब और खेल गतिविधियां कराकर दूर किया जा सकता है।

4. सरकारी प्रयास–

वैधानिक तौर तरिके से भी बाल–अपराध को नियंत्रित किया जाना चाहिए जिसमें कानून का सख्त पालन, साइबर क्राइम सेल का विस्तार, बच्चों के लिए पुनर्वास केन्द्र, किशोर न्याय प्रणाली का सुदृढ़ीकरण कर के बाल–अपराध को नियंत्रित किया जा सकता है।

5. उपसंहार–

बाल–अपराध समाज के वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए गंभीर चुनौती है। यह केवल कानूनी समस्या नहीं बल्कि सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक समस्या भी है। बदलते समय के साथ बाल–अपराध के रूप अत्यन्त जटिल और आधुनिक हो गय हैं साइबर अपराध, सोशल मीडिया आधारित अपराध, ड्रग तस्करी, गैंग कल्चर और यौन अपराध आज नई चिंता बन चुकी है। इन अपराधों को रोकना केवल कानून काम नाम नहीं, बल्कि परिवार, समाज, विद्यालय और सरकार सभी की संयुक्त जिम्मेंदारी है। यदि बच्चों को सही दिशा, सही शिक्षा नैतिक मूल्यों और सुरक्षित वातावरण का सहारा मिले तो वे अपराध की राह नहीं बल्कि प्रगति, सफलता और राष्ट्र निर्माण की राह को चुनेंगे।

संदर्भ ग्रन्थ :–

1. आचार्य आर एण्ड सिंगल एस, भारत में सांस्कृतिक कारक और किशोर अपराध–दिल्ली का एक केस स्टडी, अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका अपराध शास्त्र और समाजशास्त्र।
2. एन0सी0 आर0 बी0 की रिपोर्ट 2024।
3. मिश्र कुमार ब्रज, मानस रोग असमान्य मनोविज्ञान पी0एच0एल0 प्रा0लि0 दिल्ली–2023।
4. राम आहुजा, सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन जयपुर एवं नई दिल्ली।
5. किशोर न्याय (बच्चों की देख–रेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000।
6. मुखर्जी नाथ रवीन्द्र, अग्रवाल भगत, सामाजिक समस्याएं विवेक प्रकाशन दिल्ली।

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर एवं सामाजिक न्याय : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ0 महेन्द्र कुमार,
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
महाराज बलवंत सिंह पी0जी0 कालेज,
गंगापुर, वाराणसी।
ई-मेल : mahen.vns@gmail.com

सारांश-

*डॉ0 अम्बेडकर का सम्पूर्ण जीवन भारतीय समाज में सुधार के लिए समर्पित था। वे अस्पृश्यों तथा दलितों के मसीहा थे। उन्होंने सदियों से पद-दलित वर्ग को सम्मानपूर्वक जीने के लिए एक सुस्पष्ट मार्ग प्रशस्त किया। उन्हें अपने विरुद्ध होने वाले अत्याचारों, शोषण, अन्याय तथा अपमान से संघर्ष करने की शक्ति दी। उनके अनुसार सामाजिक प्रताड़ना राज्य द्वारा दिए जाने वाले दण्ड से भी कहीं अधिक कष्टदायक है। उन्होंने प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का विशद अध्ययन कर यह बताने की प्रयास किया कि भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था, जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता का प्रचलन प्रारम्भ से ही विद्यमान नहीं था, बल्कि यह कालान्तर में विकृतियों के कारण उत्पन्न हुआ। उन्होंने दलित वर्ग पर होने वाले अन्याय का ही विरोध नहीं किया अपितु उनमें आत्म-गौरव, स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, आत्म सुधार तथा आत्म विश्लेषण करने की शक्ति प्रदान की। दलित उद्धार के लिए उनके द्वारा किए गए प्रयास किसी भी दृष्टिकोण से आधुनिक भारत के निर्माण में भुलाया नहीं जा सकते। पं0 नेहरू के शब्दों में, **"डॉ0 अम्बेडकर, "हिन्दू समाज की दमनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध किए गए विद्रोह का प्रतीक थे।"** डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का एक बिंदू कार्यक्रम था- जाति को नष्ट कर दो और फिर सब ठीक हो जायेगा। अस्पृश्यता का अवसान हो जायेगा, जिसे धर्म कहते हैं, समाप्त हो जायेगा और इसी तर्ज पर धर्म ग्रन्थ भोथरे हो जायेंगे।*

कुंजी शब्द – सामाजिक न्याय, दलित, अस्पृश्यता, जाति प्रथा।

प्रस्तावना -

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 ई० को महाराष्ट्र के **'महो'** नामक स्थान में हुआ था। वे **महार** जाति के एक अत्यन्त गरीब परिवार में जन्मे थे। महार जाति महाराष्ट्र में अछूत समझी जाती थी। जन्म के समय उनका नाम **भीम सकपाल** था। जिस समय भीमराव अम्बेडकर का जन्म हुआ था उस समय निम्न जाति के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन तथा जीवन के प्रारम्भिक काल में निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण अनेक बार अपमान सहना पड़ा जिसने उनके भविष्य की रूपरेखा तैयार कर दी तथा उन्होंने अपना जीवन दलित वर्ग के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया। अम्बेडकर बचपन से ही बहुत परिश्रमी, संयमी और धर्मनिष्ठ थे। उन्होंने 1907 ई० में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् उन्हें बड़ौदा के महाराजा ने छात्रवृत्ति प्रदान की जिसके सहारे उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की और 1912 में बी0 ए0 पास कर लिया। 1913 में वे बड़ौदा के महाराजा की छात्रवृत्ति पर ही अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में अध्ययन के लिए गए। वहाँ 1915 में उन्होंने अर्थशास्त्र विषय में एम0 ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की। वहीं वे विश्वविख्यात अर्थशास्त्री प्रो0 सैल्गमैन के निकट सम्पर्क में आए। 1916 में उन्होंने विश्व की प्रसिद्ध शिक्षण संस्था **'लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस'** में प्रवेश लिया। अगस्त, 1917 में वे भारत लौट आए और महाराजा बड़ौदा के **'सैनिक सचिव'** के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। बड़ौदा राज्य में उच्च पद पर होने के बावजूद भी उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था क्योंकि वे अछूत थे। चपरासी तक भी उनका अपमान करते थे। 1920 में वे पुनः अध्ययन के लिए लन्दन गए और 1924 में उन्होंने **'मास्टर ऑफ साइंस'** की उपाधि प्राप्त की। अपने शोध प्रबन्ध पर उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय से पी-एच0 डी0 की उपाधि प्राप्त की। इसके साथ ही उन्होंने 'बार एट लॉ' की उपाधि भी प्राप्त की।

1923 में अम्बेडकर भारत लौट आए और बम्बई में उन्होंने वकालत प्रारम्भ की तथा उन्होंने **'बहिष्कृत भारत'** नामक मराठी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 1927 में ही उन्हें बम्बई विधानपरिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया। विधानपरिषद् में उन्होंने दलित समाज की स्थिति का बहुत मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया। सामाजिक अछूतोद्धार कार्यक्रम के अन्तर्गत उन्होंने **'बहिष्कृत अधिकारी सभा'** की स्थापना की। डॉ0 अम्बेडकर ने अगस्त 1936 में 'इण्डिपैण्डैण्ट लेबर पार्टी' की स्थापना की। अगस्त, 1942 में उन्हें गवर्नर जनरल की परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया। 1947 में उन्हें संविधान निर्माण की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया गया। 1949 में उन्हें स्वतन्त्र भारत का प्रथम 'विधि-मन्त्री' बनाया गया। किन्तु उन्होंने पारस्परिक मतभेदों के कारण 1951 में मन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। 1955 में उन्होंने 'भारतीय बुद्ध महासभा' की स्थापना की और 14 अक्तूबर, 1956 को उन्होंने 'बुद्धधर्म' स्वीकार कर लिया। 6 दिसम्बर, 1956 को उनका निधन हो गया।

डॉ0 अम्बेडकर पर रामायण और महाभारत का बहुत प्रभाव पड़ा। उनके जीवन के गौतम बुद्ध, कबीर तथा महात्मा फुले आदर्श थे। वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ अग्रलिखित हैं-

1- एन्निहिलेशन ऑफ द कास्ट (1936),
2- द अनटचेबल्स हू आर दे? (1948),
3- हू वेयर दी शूद्राज,
4- बुद्धा एण्ड हीज धम्मा (1957)

इसके अलावा उन्होंने 300 से भी अधिक लेख लिखे। भारत का संविधान भी उन्होंने ही लिखा। सामाजिक भेदभाव व विषमता का पग-पग पर सामना करते हुए अन्त तक वे झुके नहीं। अपने अध्ययन, परिश्रम के बल पर उन्होंने अछूतों को नया जीवन व सम्मान दिया।

अम्बेडकर एवं दलितोद्धार

डॉ0 अम्बेडकर का जीवन भारत के सामाजिक सुधारों के लिए समर्पित था। उन्होंने जातिवाद और अस्पृश्यता के निवारण के लिए जीवनभर कार्य किया। वे राष्ट्रवादी तथा देशभक्त थे और वे भारतीय स्वाधीनता के प्रबल समर्थक थे। परन्तु स्वाधीनता के राजनीतिक पक्ष को सुदृढ़ करने पर जोर देते थे। उनके अनुसार राजनीतिक स्वाधीनता से पूर्व सामाजिक सुधार आवश्यक है। वे सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन चाहते थे। उन्हें जीवन में अनेक बार अपमान सहना पड़ा था। वस्तुतः जीवन के प्रारम्भ में उन्हें घोर अपमान और अमानवीय व्यवहार भुगतना पड़ा था। इससे उनके मन में सवर्णों के प्रति कटुता उत्पन्न हो गई थी। उन्हें हिन्दुओं के व्यवहार और ब्रिटिश शासन की नीति से यह पूर्ण ज्ञान हो गया था कि सभी अछूतों के प्रति उदासीन हैं और अछूत सभी प्रकार कमजोर हैं और वे सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सवर्णों का मुकाबला करने में असमर्थ हैं। इसलिए अछूतों के उद्धार तथा उत्थान के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। इसलिए उन्हें दलितों का मसीहा कहा जाता है। अम्बेडकर ने हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया तथा यह कहकर आलोचना की कि यह व्यवस्था असमानता पर आधारित हैं। जाति, वर्ग, कुल तथा वंश के आधार पर इस पिरामिड रूपी व्यवस्था के शीर्ष पर एक वर्ग अपना आधिपत्य तथा वर्चस्व स्थापित किए हुए हैं जिसके कारण अन्य वर्ग अपने सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक अधिकारों से वंचित हैं तथा यही उनके शोषण का भी कारण है। इस प्रवृत्ति के कारण हिन्दू समाज का निरन्तर विघटन हो रहा है, आपसी द्वेष तथा तनाव के कारण संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो रही है जो राष्ट्रीय एकता के लिए एक गम्भीर खतरा उत्पन्न कर रही है। अतः अम्बेडकर ने इस दिशा में चिन्तन किया तथा जातिगत भेदभाव को समाप्त करके राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में महान् प्रयत्न किए। अछूतोद्धार के सम्बन्ध में उनके विचारों और कार्यों का संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

वर्ण-व्यवस्था के कठोर आलोचक - डॉ0 अम्बेडकर चतुर्वर्णीय व्यवस्था के प्रबल आलोचक थे। भारतीय हिन्दू व्यवस्था का संगठन चार वर्षों के आधार पर होता है। ये चार वर्ष है-ब्राहाण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस विभाजन में शूद्रों के हितों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। शूद्र शिक्षा व ज्ञान प्राप्त करने से वंचित थे तथा उन्हें आत्मरक्षा का भी अधिकार नहीं था। हिन्दुओं को परम्परागत व्यवस्था 'मनुस्मृति' के आधार पर चलती है। डॉ० अम्बेडकर 'मनुस्मृति' को अन्याय, असमानता तथा शोषण का प्रतीक मानते हैं। उनमें हिन्दुओं की परम्परागत व्यवस्था के विरुद्ध गहरा आक्रोश था। उनके नेतृत्व में अनेक बार 'मनुस्मृति' को जलाने का कार्य किया गया। उनका विचार था कि मनुस्मृति ने अछूतों का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक शोषण करके उन्हें दासता प्रदान की है।

अम्बेडकर का मत था कि उन्नत तथा कमजोर वर्गों में जितना उग्र संघर्ष भारत में है वैसा विश्व के किसी अन्य देश में नहीं है। ऐतिहासिक आधारों पर अम्बेडकर ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि शूद्रों की उत्पत्ति तथा हीनता का कारण वे स्वयं न होकर ब्राह्मणों का जान-बूझकर किया गया प्रयास था।

(2) जाति व्यवस्था का पुरजोर विरोध- डॉ0 अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था की आलोचना की है और उसका विरोध किया है। डॉ0 अम्बेडकर का मत था कि चार वर्णो पर आधारित सामाजिक ढ़ांचे की हिन्दू योजना ने ही जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता को जन्म दिया है। इस जाति व्यवस्था के कारण असमानता और शोषण व्याप्त है। उनका विचार था कि अस्पृश्यों की समस्याओं का समाधान छोटे-छोटे सुधारों से सम्भव नहीं है वरन् इसके लिए तो क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन की आवश्यकता है। उनका विचार था कि प्रारम्भ में जाति व्यवस्था नहीं थी। कालान्तर में समाज के कुछ स्वार्थी लोगों ने जो उच्च स्तर के थे, इस प्रथा को प्रारम्भ किया। उन्होंने कुछ कमजोर लोगों से बलपूर्वक काम कराकर उन्हें अपनी दासता में रखा और उन्हें शिक्षा प्राप्त करने व व्यापार से वंचित कर दिया। इस प्रकार जातिवाद को अपनाकर शूद्रों को निर्बल कर दिया गया। उनके अनुसार जाति व्यवस्था हिन्दू समाज का सबसे बड़ा दोष था। वे जाति व्यवस्था को समूल नष्ट करना चाहते थे।

अम्बेडकर ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी विकृति है, जिसके दुःखभाव समाज के लिए बहुत ही घातक हैं। जाति व्यवस्था के कारण लोगों में एकता की भावना का अभाव है, अतः भारतीयों का किसी एक विषय पर जनमत तैयार नहीं हो सकता। समाज कई भागों में विभक्त हो गया। उनके अनुसार जाति व्यवस्था न केवल हिन्दू समाज को दुष्प्रभावित नहीं किया अपितु भारत के राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक जीवन में भी जहर घोल दिया।

(3) अछूतों के उद्धार पर बल - डॉ0 अम्बेडकर का विचार था कि अछूतों का स्वंय का दृष्टिकोण भी अछूतों की वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी था। अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अछूतों को अपनी बुरी आदतों को छोड़ देना चाहिए और हीनता की भावना का त्याग करके आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न करनी चाहिए तथा आत्म-सम्मान का जीवन व्यतीत करना चाहिए। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अछूतों में स्वतन्त्रता, समानता और स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करने की इच्छा होनी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि अछूतों को संगठित होना चाहिए तथा शिक्षा प्राप्त करके अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए। उन्होंने अछूतों को सरकारी नौकरी में जाने तथा खेती करने का भी सुझाव दिया। वस्तुतः उन्होंने अछूतों तथा दलितों के उत्थान के लिए शिक्षा तथा स्त्री सुधार पर अधिक बल दिया। उनका विचार था कि अछूतों की स्थिति में सुधार के लिए अछूत स्त्रियाँ बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं। उन्होंने स्त्रियों को साफ रहने तथा स्वच्छ कपड़े पहनने का परामर्श दिया और इस पर बात बल दिया कि स्त्रियों को स्वयं भी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और बच्चों को भी शिक्षा देनी चाहिए। महद की सभा में उन्होंने स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि "कभी मत सोचो कि तुम अछूत हो। साफ-सुथरे रहो। जिस तरह के कपड़े सवर्ण स्त्रियाँ पहनती हैं, तुम भी पहनो। यह देखो कि साफ हैं। यदि तुम्हारे पति और लड़के शराब पीते हैं तो उन्हें खाना मत दो। अपने बच्चों को स्कूल भेजो।"

अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के निराकरण के लिए केवल सैद्धांतिक दृष्टिकोण ही प्रस्तुत नहीं किया अपितु उन्होंने अपने विभिन्न आन्दोलनों व कार्यों से लोगों में चेतना जाग्रत करने एवं इसके निराकरण के लिए विभिन्न सुझाव भी प्रेरित किए। उन्होंने अस्पृश्यता निराकरण के लिए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, शैक्षणिक आदि स्तरों पर रचनात्मक कार्यक्रम तथा संगठित अभियान का आग्रह किया। अस्पृश्यों तथा दलितों के उद्धार के लिए अम्बेडकर के कुछ महत्वपूर्ण सुझावों को इस प्रकार परिलक्षित किया जा सकता है-

(क) समाज की मान्यताओं में परिवर्तन पर बल :

अम्बेडकर हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म की उन आधारभूत मान्यताओं के विरुद्ध थे, जिनके कारण अस्पृश्यता जैसी संकीर्णता का जन्म होता है। उनका मानना था कि हिन्दू समाज में स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय पर आधारित व्यवस्था स्थापित करने के लिए कठोर नियमों में संशोधन आवश्यक है। उन्होंने इसके लिए धार्मिक कार्यों के लिए ब्राह्मणों के एकाधिकार को समाप्त करने का आग्रह किया। उनके अनुसार उन शास्त्रों को अधिकारिक नहीं माना जाना चाहिए जो सामाजिक अन्याय का समर्थन करते है।

(ख) अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन :

अम्बेडकर का मानना था कि हिन्दू समाज के उत्थान के लिए जातीय बंधन समाप्त किया जाना आवश्यक है। उनके मत में इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज के विभिन्न जातियों के लोगों के मध्य अन्तर्जातीय विवाह होने लगेगा तो जाति व्यवस्था का बंधन स्वतः शिथिल होने लगेगा, क्योंकि विभिन्न जातियों के मध्य रक्त के मिलने से अपनत्व की भावना पैदा होगी। उन्होंने स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों तथा सहभोजों को प्रोत्साहित किया। जब कभी इस प्रकार के अवसर उन्हें मिलते तो वे उनमें अवश्य ही सम्मिलित होते थे।

(ग) दलितों की शिक्षा, संघर्ष और संगठन पर बल :

अम्बेडकर का विश्वास था कि दलितों के उत्थान में केवल उच्च वर्णों की सहानुभूति और सद्भावना ही पर्याप्त नहीं है। उनका मत था कि दलितों का तो वास्तव में तब उत्थान होगा जबकि वे स्वयं सक्रिय तथा जागृत होंगे। इसलिये उन्होंने घोषणा की कि शिक्षित बनो, आन्दोलन चलाओ और संगठित रहो।

दलित वर्ग की शिक्षा के बारे में अम्बेडकर का मत था कि दलितों के अत्याचार तथा उत्पीड़न सहन करने तथा वर्तमान परिस्थितियों को सन्तोषपूर्ण मानकर स्वीकार करने की प्रवृति का अन्त करने के लिए उनमें शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। शिक्षा के माध्यम से ही उन्हें इस बात का आभास होगा कि विश्व कितना प्रगतिशील है तथा वे कितने पिछड़े हुए है। उनका मानना था कि दलितों को अन्याय, अपमान तथा दबाव को सहन करने के लिए मजबूर किया जाता है।

वे इस बात से दु:खी थे कि दलित इस प्रकार की परिस्थितियों को बिना कुछ कहे स्वीकार कर लेते हैं। वे संख्या में अधिक होने के बावजूद उत्पीड़न को सहन कर लेते हैं, जबकि यदि एक अकेली चींटी पर भी पैर रख दिया जाए तो वह प्रतिरोध करते हुए काट डालती है। इन परिस्थितियों को समाप्त करने के लिए अम्बेडकर दलितों में शिक्षा के प्रसार को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उन्हें केवल औपचारिक शिक्षा ही नहीं अपितु अनौपचारिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

(4) दलितों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व के समर्थक - डॉ0 अम्बेडकर दलितों तथा अछूतों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व के समर्थक थे। उनका विचार था कि मुसलमानों की भाँति अछूतों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाए। उन्होंने इसके लिए अथक् प्रयत्न किए। उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलनों में अछूतों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व पर ही सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने गांधी जी से वार्तालाप करते हुए अछूतों के उद्धार पर विशेष चर्चा की। इन्हें कांग्रेस तथा महात्मा गांधी पर विश्वास नहीं था। उन्होंने कहा था कि, "अब हमारा विश्वास न आप पर है और न ही आपकी कांग्रेस पर, यदि हमारा विश्वास किसी बात पर है तो वह अपना उद्धार करने पर।" इनके इन शब्दों से स्पष्ट होता है कि वे अपनी जाति के उत्थान को सर्वोपरि महत्त्व देते थे। इसके विपरीत गांधी जी का विचार था कि अछूत वर्ग हिन्दू समाज का एक अविभाज्य अंग है और ऐसी किसी भी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता जिससे हिन्दू समाज का विघटन हो।

संक्षेप में, डॉ० अम्बेडकर अछूतों को पृथक् प्रतिनिधित्व देना चाहते थे और इस प्रकार अछूत वर्ग को एक बड़ी राजनीतिक शक्ति का रूप देना चाहते थे।

(5) सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग:

अम्बेडकर का मत था कि दलित वर्ग के उत्थान के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार इसके लिए दलित वर्ग हेतु आरक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए। उनके अनुसार दलित वर्ग को सेवाओं में पर्याप्त स्थान दिलाए जाने के लिए सरकार को विशेष संवैधानिक तथा कानूनी प्रावधान करने चाहिए।

(6) कार्यपालिका में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग :

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि दलित वर्ग को नीति निर्माण के कार्यों में उचित अवसर के लिए मंत्रिमण्डलों में भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। उनको भय था कि बहुमत के शासन में दलित वर्ग के हितों तथा अधिकारों की उपेक्षा होने की संभावना हो सकती है। किन्तु यदि दलित वर्ग को कार्यपालिका में जब पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलेगा तो वह अपने अधिकारों तथा हितों के प्रति होने वाली उपेक्षा को समाप्त करने में सक्षम होगा तथा अपने विकास के लिए विशेष नीतियों का निर्माण कर रचनात्मक कार्यक्रमों को शासन के माध्यम से सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकता है।

अम्बेडकर को अस्पृश्य लोगों के प्रति हिन्दू समाज के व्यवहार से काफी ठेस लगी अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दलितों को अपने सम्मान को बचाए रखने के लिए हिन्दू धर्म को अन्तिम हथियार के रूप में त्याग देना चाहिए। किन्तु उनका मानना था कि भारत में इस्लाम और ईसाई धर्मों का भी दलितों के प्रति दृष्टिकोण न्यायपूर्वक नहीं है, अतः दलितों को भारत में प्रचलित एक अन्य धर्म बौद्ध धर्म को अपना लेना चाहिए।

उनका विश्वास था कि बौद्ध धर्म सामाजिक असमानता को समाप्त कर भातृत्व की भावना विकसित करता है। यही कारण था कि अम्बेडकर ने स्वयं अपने जीवन के अंतिम दिनों में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। इस संदर्भ में अम्बेडकर के विचार महात्मा गांधी के विचारों से मेल नहीं खाते थे। महात्मा गांधी का यह दृढ विश्वास था कि धर्म परिवर्तन करने मात्र से दलित वर्गों की स्थिति में वास्तविक सुधार होगा ही, इसकी कोई निश्चितता नहीं है।

(7) नारी गरिमा का समर्थन :

अम्बेडकर भारतीय समाज में स्त्रियों की हीन दशा से काफी क्षुब्ध थे। उन्होंने उस साहित्य की कटु आलोचना की जिसमें स्त्रियों के प्रति भेद-भाव का दृष्टिकोण अपनाया गया। उन्होंने दलितों के उत्थान एवं प्रगति के लिए भी नारी समाज का उत्थान आवश्यक माना। उनका मानना था कि स्त्रियों के सम्मानपूर्वक तथा स्वतंत्र जीवन के लिए शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण है। अम्बेडकर ने हमेशा स्त्री-पुरुष समानता का व्यापक समर्थन किया।

यही कारण है कि उन्होंने स्वतंत्र भारत के प्रथम विधिमंत्री रहते हुए **'हिंदू कोड बिल'** संसद में प्रस्तुत करते समय हिन्दू स्त्रियों के लिए न्याय सम्मत व्यवस्था बनाने के लिए इस विधेयक में व्यापक प्रावधान रखे। भारतीय संविधान के निर्माण के समय में भी उन्होंने स्त्री-पुरुष समानता को संवैधानिक दर्जा प्रदान करवाने के गम्भीर प्रयास किए।

अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन में अस्पृश्यों, दलितों तथा शोषित वर्ग के उत्थान के लिए काफी दर्शन झलकता है। वे उनके उत्थान के माध्यम से एक ऐसा आदर्श समाज स्थापित करना चाहते थे जिसमें समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व के तत्व समाज के आधारभूत सिद्धांत हो। डॉ. अम्बेडकर एक महान सुधारक थे जिन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित अन्यायपूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन तथा सामाजिक न्याय की स्थापना के जबरदस्त प्रयास किए।

उन्होंने दलितों, पिछड़ों, अस्पृश्यों के विरुद्ध सदियों से हो रहे अन्याय का न केवल सैद्धांतिक रूप से विरोध किया अपितु अपने कार्य कलापों, आन्दोलनों के माध्यम से उन्होंने शोषित वर्ग में आत्मबल तथा चेतना जागृत करने का सराहनीय प्रयास किया। इस प्रकार अम्बेडकर का जीवन समर्पित लोगों के लिए सीखने तथा प्रेरणा का नया स्रोत बन गया।

(8) अछूतों को सभी सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग का अधिकार होना चाहिए - डॉ0 अम्बेडकर का मत था कि सभी सार्वजनिक स्थान - मन्दिर, कुएँ और तालाब आदि सभी मनुष्यों के लिए सुलभ होने चाहिए। वस्तुतः वे चाहते थे कि मन्दिरों, कुओं तथा तालाबों का सभी को उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए और अछूतों को इनके प्रयोग से वंचित करना न्यायोचित नहीं है। उन्हीं के प्रयासों से गंगा सागर तालाब का पानी पिया गया, यह वही तालाब था जहाँ अछूतों को पानी पीने की आज्ञा नहीं थी। 1930 में उन्होंने गुजरात में काला-राम मन्दिर में प्रवेश के लिए एक प्रदर्शन का नेतृत्व किया। उन्होंने 'महार वतन' कानून का विरोध किया, जो महाराष्ट्र के महारों के लिए 'बंधुआ मजदूरी और दासता' की व्यवस्था करता था। उन्होंने 'समता सैनिक दल' की भी स्थापना की।

(9) अछूतों के उद्धार के लिए कानूनी उपाय - 'मनुस्मृति' तथा अन्य स्मृतियाँ उस समय कानून थीं। अतः कानून द्वारा उनमें परिवर्तन करके सामाजिक समानता स्थापित की जानी चाहिए। उन्होंने कानून द्वारा मनुस्मृति को नया रूप दिया तथा ऊँच-नीच के भेदभावपूर्ण कानूनों को रद्द किया। भारतीय संविधान द्वारा राजनीतिक समानता के साथ-साथ सामाजिक समानता की व्यवस्था की गई। संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 में सामाजिक समानता की व्यवस्था भी की गई है और अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता को कानून की दृष्टि में अपराध घोषित करने की व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जन-जातियों को आरक्षण दिया गया है।

(10) अछूतों के लिए धर्म-परिवर्तन – डॉ0 अम्बेडकर चाहते थे कि अछूत सम्मानपूर्ण ढंग से जीवन बिताएँ। हिन्दू धर्म में असमानता तथा ऊँच-नीच की भावना थी अतः सम्मानपूर्ण और समानता के लिए उन्होंने अछूतों के लिए धर्म-परिवर्तन का निश्चय किया। बौद्ध धर्म में उन्होंने समानता का सन्देश पाया। अतः उन्होंने अपने वर्ग के लिए बौद्ध धर्म स्वीकार करने का संकल्प किया और 1956 में 5 लाख व्यक्तियों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। इस धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य अछूत वर्ग को अपनी अलग पहचान बनाकर सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करना था। डॉ0 वी0 पी0 वर्मा के अनुसार, "उन्होंने बौद्ध धर्म में मार्क्सवाद का नैतिक तथा सहिष्णु विकल्प खोजा और उनके अनुयायियों ने उन्हें गर्व के साथ 'बीसवीं सदी का बोधिसत्व' कहा।"

(11) श्रमिकों के हितों का समर्थन - उन्होंने श्रमिकों के हितों को भी महत्त्वपूर्ण समझा और उन्हें मिल-मालिकों के शोषण से बचाया। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिकों का एक स्वतन्त्र दल बनाया।

डॉ0 अम्बेडकर अछूत तथा दलितों के लिए समर्पित सामाजिक और राजनीतिक विचारक थे। उनका उद्देश्य अछूतों, दलितों तथा श्रमिकों का उत्थान था तथा वे सामाजिक भेदभाव मिटाकर समानता स्थापित करना चाहते थे। संविधान में धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा अस्पृश्यता अपराध अधिनियम उन्हीं की देन हैं। वे प्रबल देशभक्त और राष्ट्र की एकता के प्रबल समर्थक थे। वे प्रारम्भ से ही राजनीतिक स्वतन्त्रता के भी समर्थक रहे परन्तु उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य अछूतों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन की परिस्थितियां उत्पन्न करना था तथा समाज को समानता के आधार पर व्यवस्थित करना था, जिससे समाज में व्याप्त ऊंच-नीच की भावना समाप्त हो और जाति के आधार पर भेदभाव तथा शोषण न हो। वस्तुतः वे राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा पहले सामाजिक सुधार चाहते थे, न कि एक राजनीतिज्ञ। डॉ0 वी0 पी0 वर्मा के अनुसार, ‘‘इसमें संदेह नहीं कि वे देशभक्त थे और राष्ट्रीय एकीकरण के विरोधी नहीं थे। कोई भी उनके इस विचार का विरोध नहीं कर सकता कि अछूतो के लिये हिन्दुत्वद्वारा उन पर लादी गयी घोर अपमानजनक स्थितियों का विरोध और उनसे मुक्ति, ब्रिटिश शासन से देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की तुलना में अधिक आवश्यक कार्य था।" उनके विचारों और कार्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि वे अछूतों तथा दलितों के मसीहा थे।

संदर्भ ग्रन्थ

1- नागला, बी0के0, "भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन" (2021), रावत पब्लिकेशन, जयपुर,पेज नं0 279-282 , 285-288

2- रावत, हरिकृष्ण, "समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार" (2021), रावत पब्लिकेशन, जयपुर,पेज नं0 20-29

3- महाजन,धर्मवीर एवं महाजन,कमलेश, "भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य" (2015) विवेक प्रकाशन, दिल्ली पेज नं0 238-243

4- दोषी, एस0 एल0, "भारतीय सामाजिक विचारक", (2010), रावत पब्लिकेशन, जयपुर,पेज नं0 161

****

कन्या भ्रूण हत्या : एक समाजिक समस्या

डॉ0 जयन्त गुप्ता
प्रोफेसर आलोक कुमार कश्यप
महाराज बलवंत सिंह पी0जी0 कालेज
गगांपुर, वाराणसी

प्रस्तावना

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" – जिस देश में नारियों की पूजा का विधान बताया गया, उसी देश की धरती आज अपनी बेटियों के रक्त से लाल हो रही है। कन्या भ्रूण हत्या का अर्थ है गर्भ में पल रही कन्या की लिंग पहचान कर उसकी हत्या कर देना। यह न केवल एक कानूनी अपराध है, बल्कि मानवता के विरुद्ध एक जघन्य कृत्य है। 21वीं सदी के भारत में, जहाँ हम डिजिटल इंडिया और अंतरिक्ष अभियानों की बात कर रहे हैं, वहाँ लिंगानुपात का गिरना हमारी सामाजिक और मानसिक पिछड़ेपन को दर्शाता है। भारतीय धर्म संस्कृति में स्त्री को पूज्य और लक्ष्मी का स्वरूप माना गया है। कन्यादान महादान कहा गया है जिसके बिना स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती परन्तु इसका एक यथार्थ पहलू यह भी है जहाँ स्त्री को इतना ऊँचा दर्जा प्रदान किया है वहीं उसका तरह–तरह से शारीरिक, मानसिक उत्पीडन भी किया जा रहा है। कहीं कन्या भ्रुण हत्या के रूप में, कहीं दहेज उत्पीडन के रूप में, कहीं दोयम दर्जे के प्राणी के रूप में, कहीं यौन शोषण के रूप में।

मुख्य शब्द – कन्या भ्रूण हत्या, गर्भ, लिंग, लिंगानुपात, स्त्री, शोषण

आज वह बात असत्य प्रतीत होता है जो स्त्री को पुज्यनीय प्रतिस्थापित करने की बात करते हैं। जब परिवार में एक कन्या का जन्म होता है तो परिवारजन और निकट सम्बन्धियों की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार होती है। जो होना था सो हो गया, लडका–लड़की दो ही तो होते हैं, क्या अन्तर है, लड़कियाँ माँ–बाप का ज्यादा ख्याल रखती हैं, दहेज की तैयारी करो, अगली बार लड़का हो जायेगा। सृष्टि का आधार स्त्री है प्रकृति से उसे ही नया जीवन सृजित करने का अधिकार प्राप्त है। लेकिन जब यह पता चलता है कि होने वाला गर्भ कन्या शिशु है तो सारा उत्साह, उमंग, खुशी अवसाद में परिवर्तित हो जाता है। इसके विपरीत जब पुत्र का जन्म होता है तो तुरन्त बधाइयों का और खुशियों का दौर शुरू हो जाता है। ऐसा भी देखने में आता है कि पुत्र की चाह में दम्पत्तियाँ सात–आठ लडकियाँ पैदा करते जाते हैं, लेकिन सात पुत्रों के बाद कोई पुत्री के जन्म की कल्पना अपने हृदय मे ं करे कम ही दिखाई पड़ते हैं। स्त्री–पुरुष लिंग अनुपात में जो कमी आज द्रष्टव्य है उसका कारण स्वास्थ्य और कानून की समस्या ही नहीं है बल्कि यह एक ज्वलंत सामाजिक समस्या भी बन चुकी है। समाज में जिस तरह से लड़कियों के जन्म पर प्रतिबंध लगाये जा रहे हैं वह एक बीमार, कुत्सिल, सड़ी मानसिकता एव ं दो मुही सामाजिक सांस्कृतिक संरचना की परिचायक है जो एक तरफ तो स्त्री को पूज्यनीय देवी स्वरूपा मानने का पढे – लिखे परिवार और संभ्रान्त लोगों में ज्यादा दिखाई पड़ता है क्योंकि ऐसे परिवार जानते हैं कि एम.टी.पी. एक्ट 1971 के अन्तर्गत गर्भपात कानूनी रूप से वैध है। शिक्षित लोग इस एक्ट को तोड ़–मरोड ़ कर उन स्थितियों एव ं परिस्थितियों का दुरुपयोग करते हैं जिनके अन्तर्गत इस एक्ट में गर्भपात का प्रावधान की आड़ में परिवार नियोजन की दुहाई देकर पुरुष स्त्री के कन्या भ्रूण की हत्या करवा देता है संयोग से परिवार नियोजन की छूट भी पी.एन.डी.टी. एक्ट में मौजूद है। भ्रूण परीक्षण के दौरान कानून की यही रियायत बालिका भ्रूण की मौत का कारण बन जाती है। आंकड़ों को देखने से स्पष्ट

होता है कि 1981–91 के बीच लगभग 37 हजार लड़कियों को पैदा होने से रोका गया। यह स्थिति स्पष्ट करती है कि 2011 तक लगभग 2 करोड़ 30 लड़कों को जीवन संगनी लड़कियाँ उपलब्ध नहीं होंगी। राजस्थान में कुछ जिले ऐसे हैं जहाँ के गाँवो ं में आज भी लड़कियाँ शादी के लिए नहीं मिल रही है ं। उत्तर प्रदेश में पाँच लड़कों की शादी एक लड़की से इसी भयावह स्थिति को स्पष्ट करती है। हरियाणा के लगभग 12 जिले ऐसे हैं जहाँ लड़कियों का अकाल पड़ चुका है। कन्या भ्रूण हत्याओं से सर्वाधिक प्रभावित यह प्रदेश आज शादी के लिए लड़कियों की खरीद फरोख्त की स्थिति में है। वहाँ की महिलाएँ आज शारीरिक मानसिक हिंसा की शिकार हो रही हैं। आँकड़े यह भी दर्शाते हैं कि पंजाब और दिल्ली के दक्षिणी इलाको ं में संभ्रान्त परिवार कन्या भ्रूण हत्या कराते रहने के कारण लिंगानुपात के अन्तर का शिकार हो चुके हैं। भारतीय परिवार कल्याण संस्थान की एक रिपोर्ट पर ध्यान दें तो हमें पता चलेगा कि देश में प्रतिवर्ष लगभग 40 लाख गर्भपात कराये जाते हैं जिसमें 90 प्रतिशत असुरक्षित हाथों से कराये जाते हैं। इसका अर्थ लगभग 36 लाख महिलाएँ अवैध रूप से असुरक्षित क्लीनिकों में गर्भपात करवाती हैं तथा उनमें अनुमानत 28 प्रतिशत कन्या भ्रूण होती हैं। कन्या भ्रूण हत्या के पीछे एक कुत्सित सत्य यह है कि गरीबी के कारण नहीं बल्कि आर्थिक सम्पन्नता के कारण यह फलीभूत हो रहा है। क्योंकि गरीब आर्थिक रूप से पिछड़ा व्यक्ति ज्यादातर लड़के की उम्मीद में कन्या को जन्म देते चले जाते हैं लेकिन जो पढ़े हैं संभ्रान्त हैं वे जन्म से पहले ही आने वाली संतान का लिंग परीक्षण करवाकर भविष्य में आने वाली समस्याओं का अपने हिसाब से उपाय कर लेते हैं। अन्त में एक यक्ष प्रश्न यह उठता है कि यदि महिलाओं के अस्तित्व पर इसी तरह संकट के बादल अप्रत्यक्ष रूप से मँडराते हैं तो वह दिन दूर नहीं जब समाज में भावनाओं का अत्यन्त कुत्सित स्वरूप खुलेआम दिखाई पड़ेगा कि यौन शोषण के रूप में, कहीं हत्या के रूप में, कहीं बलात्कार के रूप में, कहीं बहुपति विवाह के रूप में इत्यादि अनेकानेक विषमतायें समाज को चुनौती देने के लिए स्वयं आमंत्रित की जा रही हैं। वास्तव में कन्या भ्रूण हत्याओं के पीछे न तो वे जाँच केन्द्र दोषी हैं न लड़की के माँ–बाप न ही वे परिवारजन जो लड़की को बोझ, पाप मानते है। कन्या भ्रूण हत्या के लिए वास्तव में यदि किसी को दोष दिया जाय तो वह है हमारी छोटी सोच, कुत्सित मानसिकता अप्रासंगिक मान्यताएँ और परम्पराएँ जो बेटे–बेटी में भयंकर अन्तर करने के लिए बाध्य करता है। जब ईश्वर ने सृष्टि रचते वक्त स्त्री–पुरुष में कोई भेदभाव नहीं किया तो हम केवल अपने स्वार्थ के लिए एवं झूठे आडम्बरों के वशीभूत होकर इस कुकृत्य को प्रोत्साहित करने के अधिकारी कैसे है? क्या स्त्री को केवल हम पत्नी के रूप में ही चाहते हैं बेटी के रूप में नहीं।

कन्या भ्रूण हत्या के विरुद्ध कानूनी ढाँचा और संवैधानिक सुरक्षा

कन्या भ्रूण हत्या को रोकने के लिए भारतीय संविधान और कानून जगत ने समय–समय पर कड़े कदम उठाए हैं। इसे केवल एक सामाजिक बुराई नहीं, बल्कि मानवाधिकारों का हनन माना गया है।

1. संवैधानिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 21 प्रत्येक व्यक्ति को 'जीवन का अधिकार' देता है। न्यायपालिका ने स्पष्ट किया है कि इसमें 'अजन्मे बच्चे' का गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार भी शामिल है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 15 लिंग के आधार पर किसी भी भेदभाव को रोकता है। कन्या भ्रूण हत्या इन दोनों संवैधानिक मूल्यों का उल्लंघन है।

2. पी.सी.पी.एन.डी.टी. अधिनियम, 1994

यह इस दिशा में सबसे सशक्त कानून है। इसका पूरा नाम प्रसव पूर्व निदान तकनीक (विनियमन और दुरुपयोग निवारण) अधिनियम है।

मुख्य उद्देश्य: इसका प्राथमिक उद्देश्य गर्भधारण से पहले या बाद में लिंग चयन को रोकना और लिंग निर्धारण के लिए नैदानिक तकनीकों के दुरुपयोग को समाप्त करना है। अनिवार्य पंजीकरण: देश के सभी अल्ट्रासाउंड केंद्रों, आनुवंशिक प्रयोगशालाओं और क्लीनिकों का सरकार के पास पंजीकरण अनिवार्य है। सजा का प्रावधान: पहली बार दोषी पाए जाने पर चिकित्सक को 3 साल की कैद और ₹10,000 तक का जुर्माना। दोष सिद्ध होने पर डॉक्टर का लाइसेंस रद्द करने का प्रावधान। गर्भस्थ शिशु का लिंग जानने की इच्छा रखने वाले परिजनों के लिए भी सजा और जुर्माने का सख्त नियम है। विज्ञापन पर रोक: लिंग निर्धारण से संबंधित किसी भी प्रकार के विज्ञापन (प्रिंट, डिजिटल या सोशल मीडिया) पर पूर्ण प्रतिबंध है।

3. भारतीय न्यायपालिका की सक्रियता

माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने स्वैच्छिक स्वास्थ्य संगठन बनाम भारत संघ मामले में कड़े निर्देश दिए थे कि राज्यों को पी.सी.पी.एन.डी.टी. अधिनियम का पालन कड़ाई से करना चाहिए। न्यायालय ने कहा कि बेटियों को मारना प्रकृति के चक्र को नष्ट करने के समान है।

4. सरकारी योजनाओं के माध्यम से प्रोत्साहन केवल कानून से मानसिकता नहीं बदली जा सकती, इसलिए सरकार ने वित्तीय प्रोत्साहन का सहारा लिया है:

बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ : 2015 में शुरू की गई यह योजना उन जिलों पर केंद्रित है जहाँ लिंगानुपात बहुत कम है। यह योजना शिक्षा और अस्तित्व दोनों को सुनिश्चित करती है।

सुकन्या समृद्धि योजना: यह एक बचत योजना है जो बेटियों की उच्च शिक्षा और विवाह के लिए आर्थिक बोझ को कम करती है, जिससे माता–पिता उन्हें पराया धन या बोझ न समझें।

लाडली लक्ष्मी योजना (राज्य स्तरीय): मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों ने बेटियों के जन्म पर एक निश्चित राशि देने की व्यवस्था की है।

5 . कानून के क्रियान्वयन में चुनौतियाँ कानून होने के बावजूद यह अपराध जारी है, इसके पीछे कुछ प्रमुख कमियाँ हैं:

पोर्टेबल मशीनें: छोटी अल्ट्रासाउंड मशीनों को आसानी से छुपाकर ले जाया जा सकता है, जिससे अवैध लिंग जाँच घर–घर तक पहुँच गई है। डॉक्टर–मरीज सांठगांठ: यह एक ऐसा अपराध है जिसमें शिकायतकर्ता (माता–पिता) और अपराधी (डॉक्टर) दोनों की सहमति होती है, जिससे सबूत जुटाना कठिन हो जाता है।

सामाजिक दबाव: अक्सर महिला पर परिवार द्वारा दबाव बनाया जाता है, और वह कानूनी शिकायत करने की स्थिति में नहीं होती। कन्या भ्रूण हत्या केवल एक सामाजिक कुरीति या कानूनी अपराध नहीं है, बल्कि यह एक सभ्यता के पतन का संकेत है। यह उस 'सृजन शक्ति' पर प्रहार है जिसके बिना मानव समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है। जब हम एक कन्या की भ्रूण में हत्या करते हैं, तो हम केवल एक जीव को नहीं मारते, बल्कि हम आने वाली पीढ़ियों की संभावनाओं, एक माँ की ममता, एक बहन के स्नेह और समाज के संतुलन को भी समाप्त कर देते हैं। आज का भारत तकनीक में अग्रणी है, लेकिन मानसिक रूप से 'पुत्र–मोह' की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। यह विडंबना ही है कि जिस समाज में शक्ति के लिए दुर्गा, धन के लिए लक्ष्मी और ज्ञान के लिए सरस्वती की पूजा की जाती है, उसी समाज में साक्षात लक्ष्मी के आगमन को रोकने के लिए विज्ञान का सहारा लिया जाता है।

निष्कर्षतः, इस समस्या का समाधान केवल कठोर कानून या सरकारी योजनाओं (बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ) से संभव नहीं है। वास्तविक परिवर्तन 'हृदय परिवर्तन' और 'सामाजिक चेतना' से आएगा। हमें निम्नलिखित संकल्पों की आवश्यकता है–मानसिकता में बदलाव: समाज को यह स्वीकार करना होगा कि बेटा और बेटी दोनों समान रूप से परिवार और राष्ट्र के आधार स्तंभ हैं। दहेज जैसी कुरीतियों का अंत: जब तक विवाह को एक व्यापार समझा जाएगा, बेटियाँ बोझ बनी रहेंगी। इसका उन्मूलन अनिवार्य है। महिलाओं का सशक्तिकरण: शिक्षित और आर्थिक रूप से स्वतंत्र महिला स्वयं अपने अधिकारों के लिए खड़ी हो सकती है और दबाव में आकर भ्रूण हत्या का शिकार होने से इनकार कर सकती है। सामूहिक उत्तरदायित्व: यह केवल सरकार या पीड़ित महिला की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि डॉक्टरों, पड़ोसियों और रिश्तेदारों का भी कर्तव्य है कि वे ऐसे कृत्यों का विरोध करें। यदि समय रहते हम सचेत नहीं हुए, तो आने वाले समय में भयंकर सामाजिक असंतुलन, अपराधों में वृद्धि और पारिवारिक संरचना का विखंडन निश्चित है। प्रकृति का संतुलन नारी और पुरुष के समान अस्तित्व पर टिका है। भविष्य की पीढ़ियों को एक सुरक्षित और न्यायपूर्ण समाज देने के लिए आज हमें यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि हम कोख में पल रही नन्ही किलकारियों को खामोश नहीं होने देंगे। बेटी रहेगी, तभी तो कल रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

- भारत की जनगणना (2011): रजिस्ट्रार जनरल और जनगणना आयुक्त का कार्यालय, भारत सरकार।
- राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFH–5, 2019–21): स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत।
- कुमार, सतीश (2018): भारतीय समाज में महिलाएँ: चुनौतियाँ और समाधान, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स।
- PCPNDT अधिनियम, 1994: कानूनी मार्गदर्शिका और सरकारी गजट।
- यूनीसेफ (UNICEF) रिपोट: स्टेट ऑफ द वर्ल्ड्स चिल्ड्रन – जेंडर इक्वालिटी।
- अमर्त्य सेन (2001): मिसिंग विमेन (Missing Women) – लेख और सांख्यिकीय विश्लेषण।
- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC): महिला अध्ययन केंद्र के शोध पत्र

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

ग्रामीण भारत में इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों की भूमिका एक समाज वैज्ञानिक अध्ययन

डॉ. अनीता गौतम
सहयुक्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय ढाढा बुजुर्ग हाटा, कुशीनगर उ. प्र.
Email draneetagautam@gamil.com

डॉ. कौलेश्वर प्रियदर्शी
आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय रामकोला, कुशीनगर उ. प्र.
Email dkauleshwar@gmail.com

मनुष्य संसार में जन्म लेने के बाद मानव समाज का सदस्य बन जाता है। मनुष्य संचार माध्यमों से धीरेधीरे सामाजिक - आवश्यकता है, संचार के अभाव में न मानव समाज की स्थापना हो सकती है और न ही मानव की सामाजिक व्यवस्था क्योंकि संचार के अभाव में व्यक्ति की विशेषता उसी तक सीमित रह जाएगी। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि संचार के बिना मानव के सामाजिक जीवन की कल्पना नही की जा सकती है। संचार ही मानव जीवन की संचालन प्रक्रिया को सम्भव बनाती है। कम्यूनिकेशन, संचार या सम्प्रेषण शब्द लैटिन भाषा के कम्युनिकेटर से ग्रहण किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ हैसामान्य बनाना -, आपस में बांटना, बताना, दूसरों को समझना। सामान्यतया संचार या सम्प्रेषण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से माना जाता है जिसके माध्यम से विकसित या सम्भावित नवीन तथ्यों की जानकारी दूरवर्ती लोगों को प्राप्त होती है। संचार या सम्प्रेषण पर ही सामाजिक अन्तःकिया आधारित है। सामान्यतया दृष्टि, निर्देशन, भावभंगिता-, मुखमुद्रा-, भाषा एवं प्रतिकात्मक चिन्ह सम्प्रेषण के माध्यम है।

आधुनिक समय में आर्थिक विकास के लिए इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के अत्यधिक उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि उद्योगों, व्यवसायों में इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों का अच्छाखासा प्रयोग यह सिद्ध करता है कि किसी भी समाज के आर्थिक विकास - के लिए इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु व्यावसायिक संचार माध्यम मुख्यतया शहरों को ही आधार मानते है। यहीं कारण हैकि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में परिवर्तन की गति धीमी है। यदि हम चाहते है कि हमारे ग्रामीण नागरिको का जीवन भी इसी अनुपात में ऊँचा उठे तो पहली आवश्यकता यह है कि हम उनके द्वारा मान्य संचार माध्यमों का प्राथमिकता से उपयोग करे जिससे हम अपनी बातों को सहीं अर्थो में उन तक पहुंचा सके और अर्थ का अनर्थ न हो।

आज के अत्याधुनिक युग में इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों का महत्व दिनप्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। किस भी देश या समाज में इनके - योगदान एवं प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता है। लोगों के द्वारा परम्परागत संचार माध्यमों कीअपेक्षा इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों द्वारा सूचनाओं के प्रकार की तीव्रता के कारण इनके उपयोग में लगातार वृद्धि होती जा रही है। जहां परम्परागत संचार माध्यमों से सूचनाओं के आदानप्रदान आदि में काफी समय लगता था। आज इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के द्वारा यह अति क-म समय में ही सम्पन्न हो जा रहा है। आज इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के अभाव में कोई भी समाज अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विकास नहीं कर सकता है, चाहे लोकतंत्र हो या राजतंत्र दोनों प्रकार के समाज के लिए सामाजिक व्यवस्था और कानूनी व्यवस्था बनाए

रखने के साथसाथ विकास की गति को बनाएं रखने में इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों का महत्वपूर्ण स्थान है।- प्रयोग नहीं किए गए थे व्यवस्थित रूप से **बर्ट एवं रिक्स** ने मानव समस्याओं के सन्दर्भ में ही संचार की प्रासंगिकता पर सर्वप्रथम शोध कार्य किया।

लेजर्स फिल्ड और वेरेल्सन ने अन्तर्वस्तु विश्लेषण लैसबेल ने ब्रोता अध्ययन, डूब ने सामाजिक परिवर्तन, लर्नन एवं स्कैम ने आधुनिक समाज के विकास में जनसंचार माध्यमों की भूमिका पर अपने अध्ययन प्रस्थापित किए। रोजर्स एवं हर्जीज ने ऐसे अनेक साक्ष्य एकत्रित किये जिनसे ज्ञात होता है कि समाचार पत्रों के अध्ययन से यह देखा कि प्रदूषण, निर्धनता, नारी उन्नति आदि क्षेत्रों में समाधान प्रस्तुत किये गये।

भारत में भी समाज वैज्ञानिकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में संचार पर उल्लेखनीय शोध कार्य किया। **एसदूबे .सी.** ने चीन आक्रमण के बाद प्रतिक्रिया जानने के लिए अध्ययन किया। लक्ष्मणराव ने दक्षिण के दो गांवो के अध्ययन में पाया कि लोग सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर रहे है और अपना जीवन स्तर उपर उठा रहे है। **प्रदीप्तों राय, फैड्रिक और रोजर्स ने कास्टारिका** और भारत के गांवो में विकास के सन्दर्भ में जनसंचार के प्रभाव के बारे में अवलोकित किया कि संचार में ऐसे तरीके विश्लेषित थे। जिनसे ग्रामीण क्षेत्रों में बांछनीय नवाचारो को स्वीकार किया जा रहा है।

वाई०बी० दामले के ग्रामीण अध्ययन से पता चलता है कि ग्रामीण समुदाय को रेडियों एवं समाचार पत्रों के माध्यम से राष्ट्रीय राजनैतिक परिदृश्य, राष्ट्रीय नीतियों, विश्व राजनैनिक मंच, जाति, धर्म के बारे में आधुनिक विचार प्राप्त हो रहा है। **एनचौधरी .डी.** ने अपने प्रपत्र में सूचना पत्रों और गांवो के "ग्रामीणों में सूचना स्तर का बढ़ना"लोगों में जानकारी के स्तर के बीच के संबंध के बारे में जानकारी दी। जोसेफ ईकेल्विन ने अपने अध्ययन में गांववासियों और संचार माध्यमों के बीच यह सम्बन्ध पाया कि ग्रामीण समाज इन माध्यमों .के . से फायदा उठाकर कृषि कार्य कर रहे है।

एसशर्मा .सी . ने राजस्थान के चार गांवो पर अध्ययन किया है। उसमें पाया गया कि गांव के विकास में जनसंचार के साधनों में पारस्पारिक जनसंचार के साधन ज्यादा प्रभावकारी है।- **आरके पालीवाल.** ने गाजियाबाद जिले के दहना गांव पर अध्ययन किया जिसमें ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण जनसंचार माध्यमों की संस्कृति का प्रभाव पूरे ग्रामीण समाज पर पड़ रहा है परन्तु इसका लाभ शक्ति सम्पन्न लोग ज्यादा उठा रहे है।

ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में देखी गई कुछ विषमताओं को ठीक करने हेतु पांचवी पंचवर्षीय योजना के दौरान न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम शुरू किया गया था इस कार्यक्रम में ग्रामीण स्वास्थ्य, ग्रामीण शिक्ष , ग्रामीण जल, सफाई, ग्रामीण सड़के आदि जैसे विविध क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया था।

अतः आज ग्रामीण विकास की असमानता दूर करने हेतु उसे परम्परा से प्रगति की ओर मोड़ने के लिए ग्रामीण विकास के क्षेत्र नवीन मूल्यों और तकनीकी सफलता हेतु कृषि सम्बन्धी विचारों को प्रयोगशालाओं से कृषकों के खेतों तक पहुंचाने हेतु आवश्यक है कि संचार माध्यमों को उचित दिशा दिया जाय। स्वतन्त्रता के पश्चात विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामुदायिक विकास योजना एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा के माध्यम से नवीन कृषि तकनीक के सम्प्रेषण का कार्य आज कृषकों के मध्य किया जा रहा है। इसके परिणाम अवश्य ही लाभकारी सिद्ध होंगे।

विश्व समाजों के विकास की प्रक्रिया में संचार साधनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन्हीं साधनों की प्राथमिकता के आधार पर विकसित, अविकसित तथा अर्द्ध विकसित समाजों की परिकल्पना करते हैं। आज भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में जो उदारीकरण, बाजारीकरण तथा विनिमय व्यवस्था का स्वरूप विकसित हो रहा है वह कहीं न कहीं से सूचारू प्रणाली की घोषित नीतियों से निर्धारित हो रहा है। मेकाइवर एव पेज

ने भी अपने सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप में जहाँ विकास के प्रतिमानों को दर्शाया है वहीं प्रौद्योगिकी और संचारी नीति पर विशेष बल भी दिया है। इसी से आर्थिक व्यवस्था में गतिशीलता तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में समता का भाव एवं राजनैतिक व्यवस्था में अधिकारों के अतिक्रमण पर रोक एवं सीमाओं के उल्लंघन पर प्रतिबन्ध आदि कारकों को Social System के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया गया। अध्ययन निष्कर्ष में इस बात पर बल मिलता है कि व्यवस्था का निर्देशीकरण संचारीकरण नीति का परिणाम है।

संचार मानव समाज की एक आधारभूत प्रक्रिया है। परम्परागत रूप से मानव ने शब्द भाषा और प्रतीको के माध्यम से अपने इच्छा आवश्यकता मनोभावों और विचारों का संप्रेषण किया है। जैसे–जैसे मानव सभ्यता का विकास होता चला गया वैसे–वैसे संचार की प्रक्रिया अधिक विस्तृत और जटिल होती चली गयी। संचार के अभाव में संस्कृति और सभ्यता की कल्पना नही की जा सकती है। संचार की प्रक्रिया ने ही मानवीय संबंधों और मानवीय अन्तः क्रियाओं को संभव बनाया।

इंटरनेट विखरती दुनियाँ को जोड़ने की एक अत्याधुनिक विकसित संचार प्रणाली है। इसमें सूचनाओं को प्रकाश की गति से भेजा जाता है। इंटरनेट के माध्यम से पुस्तकालयों अथवा सन्दर्भ ग्रन्थों अथवा सन्दर्भ सूचनओं को व्यक्ति घर बैठे प्राप्त कर सकता है। यदि इंटरनेट पर स्थानीय रोजगार सम्बन्धी सूचनाएं विभिन्न सरकारी सहायता वाली स्कीमों की जानकारी स्थानीय बाजार भाव, मौसम और खेती सम्बन्धी सूचनाएं आदि मिल जाये तो निश्चित ही ग्रामीणों की जरूरत वाले सरकारी विभागों से जुड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि किसी को जन्म–मृत्यु प्रमाण पत्र चाहिए तो वह उसे इन्फोर्मेशन किओस्क के माध्यम से गांव में ही प्राप्त कर ले या फिर तहसील आफिस कोई अर्जी भेजनी हो या खसरा–खतौनी, जमीन रिकार्ड की कोई जानकारी चाहिए तो वह इन्फोर्मेशन किओस्क से यह सब काम कर ले। लेकिन इसके लिए स्थानीय विभागों को तैयार करना होगा उनके सभी रिकार्ड कम्यूटरीकृत करने होंगे और निश्चित रूप से यह अपने यहाँ एक बड़ा और जोखिम भरा काम होगा।

यह नया माध्यम सूचना के अधिकार जैसे कानूनों को एक नया अर्थ दे सकता है, प्रशासक जनप्रतिनिधि और जनता के बीच संवाद का एक जरिया बन सकता है, ग्रामीणो को नये हुनर सिखा सकता है, उनके उत्पादो के लिए नए बाजार खोल सकता है, स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार हो सकता है और आम आदमी तथा जिला प्रशासन के बीच की दूरी भी कम हो सकती है। कुल मिलाकर सर्वांगीण विकास के सस्ते खुल सकते है।

आज के अत्याधुनिक युग में इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों का महत्व दिनप्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। किस-ी भी देश या समाज के विकास में इसके योगदान एवं प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता। लोगों के द्वारा परम्परागत संचार माध्यमों की अपेक्षा इलेक्ट्रनिक संचार माध्यमों द्वारा सूचनाओं के प्रसार की तीव्रता के कारण इनके उपयोग में लगातार वृद्धि होती जा रही है। जहां परम्परागत संचार माध्यमों से सूचनाओं के आदान प्रदान प्रसार आदि में काफी समय लगता था। आज इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के द्वारा यह अति कम समय में ही सम्पन्न हो जा रहा है।

सन्दर्भ) **ग्रन्थ सूची-**Bibliography)

1.दक्षिण , प्रवीण, जनमाध्यम और पत्रकारिता भाग-1, अजीत प्रिंटर्स, कौशलपुरी, कानपुर, 1980

2. पंकज, विष्णु, भाषायी पत्रकारिता और जनसंचार, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1991

3. पंकज, विष्णु , भाषायी पत्रकारिता और जनसंचार, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 1991

4. दूबे, वी.के., कृषि एवं ग्राम विकास में वीडियों एवं एवं पाण्डेय, के एनदूरदर्शन ., हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ 1992

5. कोठारी, गुलाब, पत्रकारिता, जनसंचार और विज्ञापन, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, जयपुर, 1995

6. पारख, जवरीमल, जन संचार माध्यमों का सामाजिक चरित्र, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 1996

7. मोहन, हर, रेडियों और दूरदर्शन पत्रकारिता, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

8. भानावत , संजीव, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम विश्वविद्यालय प्रकाशन, जयपुर, 2000

9. झाडवाल, एस.एम ., भारत में दूरसंचार का विकास नई पहल, रोजगार समाचार, 4-10 जून 2005

10. ठाकुर, विजय, चमत्कारिक प्रगति का संसार दूर संचार, योजना, मई 2005

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

प्रेमचन्द का कथा साहित्य : स्त्री पराधीनता के चित्र

डॉ0 संदीप कुमार कश्यप
एम.ए., पी.एच.डी. (हिन्दी)

सारांश

प्रेमचन्द भारत की स्वाधीनता आन्दोलन के लेखक हैं। उनका कथा साहित्य उस समय लिखा जा रहा था जिस समय हिन्दुस्तान की आजादी के लिए आन्दोलन हो रहे थे। अंग्रेजों की सत्ता के अधीन देशी राजे थे, सामन्त और जमींदार थे जिनके द्वारा किसान शोषित हो रहे थे। किसानों के शोषण में स्त्रियाँ भी थीं। ये नारियाँ या तो मध्य वर्ग की थीं अर्थात् दलित वर्ग की थीं। प्रेमचन्द के रचनात्मक सरोकारों में किसानों की ही भाँति नारियाँ भी अपने समग्र जीवन संदर्भों के साथ उनके रचनाकाल के प्रारंभिक दौर से ही मुख्य भूमिका में रही हैं। किसानों के साथ स्त्री और दलित वर्ग के लोग भी अपने जीवन के तमाम सामाजिक–आर्थिक संदर्भों के साथ प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में उपस्थित हैं। ये सभी पात्र भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के बड़े और महान् लोगों के साथ जुड़कर सामने आए हैं। नवजागरण के मनीषियों ने स्त्री की दुर्गति को अपने घर और परिवार में देखा था। उसी का बढ़ा हुआ रूप जब उन्होंने समाज और बाहरी जीवन में देखा, तो स्त्री–जीवन में सुधार का नारा बुलन्द किया। भारतीय जागरण के नायकों ने सती–प्रथा, बाल–विवाह आदि का विरोध किया और विधवा विवाह का समर्थन किया। प्रेमचन्द्र ने स्त्रियों की समस्याओं को किसी वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं रखा।

बीज शब्द : सामाजिक–आर्थिक, नवजागरण, दलित वर्ग, पराधीनता, पराकाष्ठा, आर्थिक।

प्रेमचन्द ने अपने कथासाहित्य में स्त्रियों की मार्मिक दशा का चित्रण किया है। उनके उपन्यास हो या उनकी कहानियाँ इन सबमें स्त्री का पराधीन रूप चित्रित हुआ है। गोदान प्रेमचन्द्र का महाकाव्यात्मक उपन्यास है जिसमें धनिया, झुनिया, सीलिया, मिस मालती, गोविन्दी, रूपा और सोना तथा दुलारी सधुआइन आदि नारी–चरित्र चित्रित हुए है। होरी की पत्नी धनिया है जो एक किसामिन के रूप में चित्रित है। किसान होते हुए भी धनिया आर्थिक कारणों से पराधीन है। गाय के जहर से मरने पर पुलिस आती है तो होरी रूपया देकर उसे शान्त करना चाहता है। धनिया इसका विरोध करती है, क्योंकि इसके लिए होरी कहीं से रूपये कर्ज लेने का प्रयास करता है। यहाँ धनिया आर्थिक कारणों से कष्ट में होकर भी पुलिस से उलझ जाती है और कहती है कि दारोगा घर की तलाशी लेना चाहे तो ले सकता है। धनिया की आर्थिक दशा का चित्र उस समय उभरकर सामने आता है जिस समय वह अपनी कमाई की सारी पूँजी बीस आने पैसे पंडित के हाथ में रखकर होरी का गोदान करने को कहती है– ''महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खा कर गिर पड़ी।' यह धनिया की आर्थिक दशा का विभत्स रूप है और नारी की आर्थिक पराधीनता की पराकाष्ठा है। नारी पराधीन है जब वह जानवर की तरह किसी भी पुरुष के हाथ बाँध दी जाती है। निर्मला उपन्यास में दहेज प्रथा के कारण निर्मला अधेड़ तोताराम के साथ ब्याह दी जाती है जबकि तोताराम तीन बेटों का बाप है। यह निर्मला की पराधीनता है जो सामाजिक कुप्रथा और बुरे रीति–रिवाज के कारण समाज में पनपता है। नारी की पराधीनता का ज्वलन्त रूप निर्मला उपन्यास के अंत में देखने को मिलता है– ''तीन दिनों तक निर्मला की आँखों से आँसुओं की धारा बहती रही। वह न किसी से बोलती थी, न किसी की ओर देखती थी और न किसी की कुछ सुनती थी। बस, रोए चली जाती थी।

उस वेदना का कौन अनुमान कर सकता है? चौथे दिन संध्या समय वह विपत्ति–कथा समाप्त हो गई।..... मुहल्ले के लोग जमा हो गये। लाश बाहर निकाली गई। कौन दाह करेगा, यह प्रश्न उठा। लोग चिन्ता में थे कि सहसा एक बूढ़ा पथिक एक बकुचा लटकाए आकर खड़ा हो गया। यह मुंशी तोताराम थे।'' निर्मला की वेदना सारे स्त्री–समाज की वेदना है जो सारे देश में दहेज–प्रथा और बेमेल विवाह के कारण देखने को मिलता है। स्त्री पराधीनता का स्वरूप 'सेवासदन' उपन्यास में भी देखने को मिलता है। निर्मला की तरह सेवासदन उपन्यास की सुमन भी दहेज–प्रथा और बेमेल विवाह के कारण बाद में चलकर वेश्या–जीवन की ओर उन्मुख होती है। सुमन वेश्या बनकर भी अपने अंतिम दिनों में, पीड़ित स्त्री जाति का उद्धार करने के लिए सेवा का मार्ग ग्रहण कर सेवासदन का संचालन करती है। यह नारी जाति की पराधीनता का वह चित्र है जहाँ पीड़ित नारी की दशा के सुधार का कार्य भी होता है। सुमन द्वारा संचालित सेवासदन की व्यवस्था देखकर ''सुभद्रा ने हँस कर कहा– बाईजी, मुझे लज्जित न करो। मैंने तो जो कुछ देखा है, उसी से चकित हो रही हूँ, तुम्हें सलाह क्या दूँगी? बस इतना ही कह सरती हूँ कि ऐसा अच्छा प्रबंध विधवा–आश्रम का भी नहीं है।''

प्रेमचन्द्र के अन्य उपन्यासों में स्त्री पराधीनता के चित्र मिलते हैं। रंगभूमि में स्त्री–पुरुष के प्रेम की पराधीनता का चित्रण मिलता है जहाँ धर्म बाधक बनता है। कुँवर भरतसिंह और रानी जाह्नवी के पुत्र विनय का प्रेमप्रसंग जॉन सेवक की पुत्री सोफिया से चलता है जिसमें धर्म बाधक बनता है। यहाँ धर्म को स्त्री–पुरुष के प्रेम में बाधक दिखाते हुए भी लेखक ने अंत में दिखाया है कि दोनों की प्रेम वासना पर आधारित नहीं है। साथ ही रानी जाह्नवी धर्म के आधार पर बाधक बनती हैं, फिर भी जब उन्हें पता चलता है कि दोनों का प्रेम विनय के स्वदेशानुराग में बाधक नहीं है तो रानी गैरधर्म के प्रेम को मान्यता देती है। प्रेमचन्द ने अपने प्रारंभ में लिखे प्रतिज्ञा नामक उपन्यास में विधवा–विवाह की समस्या को उठाया है और उसका समाधान भी दिया है। अमरनाथ के भाषण को सुनकर बाबू अमृतराय जो प्रेमा से प्रेम करते थे, अपने मन को बदल देते हैं और विधवा–विवाह हेतु तैयार हो जाते हैं। अगरनाथ कहते हैं– ''आप लोगों में कितने महाशय ऐसे हैं, जो वैधव्य की भँवर में पड़ी हुई अबलाओं के साथ अपने कर्तव्य का पालन करने का साहस रखते हैं? कृपया वे हाथ उठाए रहें। अरे यह क्या? ..... वह देखिए, एक हाथ अभी तक उठा हुआ है। वही एक हाथ युवक मंडली के ताज की रक्षा कर रहा है। सबकी आँखें उसी तरफ फिर गई। अरे यह तो बाबू अमृत राय हैं।'' यह विधवा नारियों की पराधीनता का स्वरूप है जिसे अमरनाथ जैसे समाज के लोग उजागर कर समाधान करने का प्रयास करते हैं। यों अमृत राय और प्रेमा दोनों एक–दूसरे से प्रेम करते थे, किंतु उस प्रेम को भी भुलाकर अमृतराय विधवा विवाह की ओर उन्मुख होते हैं। एक ओर यह विधवा नारी की समस्या का समाधान है तो दूसरी ओर प्रेम करने वाली प्रेमा की परवशता की ओर भी ध्यान देना चाहिए। यह प्रेम करने वाली स्त्री की पराधीनता का भी चित्र हो सकता है। प्रेमाश्रम नामक उपन्यास में लेखक ने श्रद्धा नामक नारी की समस्या को उठाया है। प्रारंभ में मुद्रा का अपने पति प्रेमशंकर से मनमुटाव होता है, किंतु बाद में वह अपने पति की सेवा में लग जाती है। यह भारतीय नारी की पराधीन दशा का रूप है जो प्रारंभ में पति से दूर रहती है परन्तु बाद में स्वयं श्रद्धा का रूप बनकर पति से अनुराग करने लगती है। इसी तरह 'वरदान' उपन्यास में भी नारी की पराधीनता के चित्र सामने आते हैं। विरजन नामक नारी की विवाह एक आवारा और अशिक्षित युवक कमलाचरण से होता है। अपने व्यवलर के कारण कमलाचरण ट्रेन से कटकर मर जाता है और विरजन विधवा हो जाती है। इस उपन्यास में विरजन जैसी नारी की विवशता का चित्र चित्रित हुआ है यहाँ नारी की

पराधीनता का ऐसा चित्र प्रेमचन्द ने उकेरा है जिसमें उसके सास–ससुर भी मृत्यु को प्राप्त होकर उसे अकेला कर देते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री चरित्रों की परवशता का उत्कृष्ट स्वरूप गोदान उपन्यास में देखने को मिलता है। पराधीन स्त्रियों के चित्र सेवासदन उपन्यास में सुमन, वरदान उपन्यास में विरजन, प्रेमाश्रम उपन्यास में श्रद्धा, निर्मला उपन्यास में स्वयं निर्मला आदि नारियों के चरित्रांकन में उपलब्ध होते हैं। किंतु गोदान में नारी की पराधीनता की विविधता मिलती है। आर्थिक कारणों से होरी की पत्नी धनिया की पराधीनता सामने आती है, तो प्रेम प्रसंग को लेकर गोबर को प्रेमिका झुनिया जब हार–थककर होरी के घर के सामने आकर बैठ जाती है। होरी के पूछने पर धनिया जो उत्तर–प्रति उत्तर करती है वह स्त्री की पराधीनता का जलता हुआ सामाजिक–आग का गोला है– होरी के कहने पर– ''गोबर को भेज कर मुझे क्यों नहीं बुला लिया?

धनिया ने कोई उत्तर न दिया। मड़ैया में आकर पुआल पर बैठती हुई बोली– गोबर ने तो मुँह में कालिख लगा दी, उसकी करनी क्या पूछते हो। जिस बात को डरती थी, वह होकर रही।

''क्या हुआ क्या? किसी से मारपीट कर बैठा?

'अब मैं क्या जानूँ, क्या कर बैठा, चलकर पूछो उसी राँड़से'

'किस राँड से? क्या कहती है तू? बौर तो नहीं गई?'

'हाँ, बौरा क्यों न जाऊँगी! बात ही ऐसी हुई है कि छाती दुगुनी हो जाए!'

होरी के मन में प्रकाश की एक लंबी रेखा ने प्रवेश किया।

'साफ साफ क्यों नहीं कहती। किस रॉड़ को कह रही है?'

'उसी झुनिया को, और किस को!'

'तो झुनिया क्या यहाँ आई है?'

'और कहाँ जाती, पूछता कौन?'

'गोबर क्या घर में नहीं है?'

गोबर का कहीं पता नहीं। जाने कहाँ भाग गया। इसे पाँच महीने का पेट हैं।''

यह नारी की पराधीनता का वह स्वरूप है जो भारतीय सामाजिक जीवन में सर्वाधिक नीच कर्म माना जाता है। झुनिया का बिना शादी के ही गर्भवती हो जाना सामान्य बात नहीं थी। वह बेसहारा होकर होरी के घर अर्थात् अपने अविवाहित पति गोबर के घर आती है जहाँ धनिया का सहारा मिलता है। यहाँ झुनिया की बेबसी का चित्र स्पष्ट है तो उसके साथ ही धनिया की भी चिन्ता नारी–पराधीनता के रूप को दर्शाती है। धनिया होरी से कहती है– ''मुझे तो इस कलमुँही झुनिया की चिंता है कि इसे क्या करूँ? अपने घर में तो छनभर भी न रहने दूँगी।..... पेट न रहता तो अभी बात न खुलती।'' प्रेमचन्द की नारी–जाति की पराधीनता की यह झाँकी अद्‌भुत है। गाँव के युवक–युवतियों की ताक–झाँक कब गम्भीर मोड़ ले लेगी, उसे लेखक ने बाखूबी गोदान उपन्यास में दिखाया है। झुनिया इस कारण बेबस है तो गोबर के कारण धनिया बेबस है। सामाजिक इज्जत की बात सोचकर धनिया और भी परेशान हो जाती है। लोगों का ताना मारने का भय भी धनिया को परेशान करता है। यह सामाजिक जीवन की ऐसी स्थिति होती है जिसमें विशेषकर स्त्रियों का जीवन दूभर हो जाता है।

प्रेमचन्द की कहानियों में उपन्यासों की तरह ही स्त्री जाति की पराधीनता के चित्र मिलते हैं। विभिन्न वर्गों से आई हुई नारियाँ अपने कार्यों अथवा अपनी आर्थिक दशाओं के कारण परवश दिखाई पड़ती हैं। 'ठाकुर का कुआँ' नामक में गंगी की बेबसी दलित वर्ग की नारी होने के कारण है। वह हरिजन बस्ती की है, इसलिए

ठाकुर के कुएँ से पानी नहीं भर सकती। उसका पति जोखू बीमार है, पानी के लिए परेशान है। उसके पास जो पानी है वह बदबू दे रहा है। गंगी अंधेरे में रात में ठाकुर के कुएँ में पानी भरने जाते जाती है। ठाकुर के दरवाजा उसी समय खुल जाता है और गंगी का घड़ा हाथ से छूट जाता है धड़ाम से ध्वनि होती है और गंगी भाग खड़ी होती है। स्त्री जाति की यह पराधीनता आर्थिक तो है ही, साथ ही दलित वर्ग की नारी होने के कारण भी उसकी पराधीनता सामने आती है। 'बूंढ़ी काकी' नामक कहानी में एक विधवा और बुढ़ी नारी की बेबसी का चित्रण हुआ है। निःसंतान काकी अपनी सारी जमीन अपने भतीजे को लिख देती है। किंतु भतीजा का परिवार काकी का ध्यान नहीं रखता है। डॉ0 शिवकुमार मिश्र में लिखा है– ''प्रेमचन्द ने केन्द्रीय संवेदना के रूप में इस कहानी में वृद्धत्व को रेखांकित किया है। इस सामान्य धारणा के विपरीत कि एक परिवारों की तुलना में बुढ़ापा संयुक्त परिवारों में अधिक सुरक्षित है, प्रेमचन्द इस समस्या को आज के मनुष्य की लाभ–लोभ प्रेरित मानसिकता से जोड़ते हैं और यह बताना चाहते हैं कि आज के आदमी की लाभ–लोभ प्रेणित मानसिकता और स्वार्थ के चलते किस प्रकार मानवीय सामाजिक नाते–रिश्ते ही नहीं क्षत–विक्षत हुए हैं, पारिवारिक नाते–रिश्ते और रक्त–संबंध तक उसकी लपेट में नहीं बचे हैं।'' बूढ़ी निःसंतान विधवा नारी की दशा का जो चित्र लेखक ने खींचा है वह अद्‌भुत है। अपने भतीजे बुद्धिराम और उसकी पत्नी रूपा के व्यवहार से काकी खिन्न तो होती हैं, किन्तु काकी की पराधीनता का चरम रूप उस समय देखने को मिलता है जिस समय वे जूठे पत्तलों पर खाने के लिए टूट पड़ती हैं– ''दीन, क्षुधातुर हतज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन–चुन कर भक्षण करने लगी। ओह दही कितना स्वादिष्ट था, कचौड़ियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी उतना जानती थी कि मैं वह काम कर रही हूँ, जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जुठी पत्तल चाट रही हूँ।'' वृद्ध नारी की यह दुर्दशा समाज की कुत्सित मानसिकता का परिणाम है। लोग तत्काल मिलने वाले लाभ–हानि पर ही ध्यान देते हैं, और, जिसके कारण लाभ हो रहा है उसपर ध्यान नहीं देते हैं। यह समाज की अंधी और विवेकीन मानसिकता का द्योतक है।

कफन नामक कहानी में दलित वर्ग की नारी की दुर्दशा के माध्यम से स्त्री की विवशता का उल्लेख किया गया है। माधव की जवान बीबी बुधिया प्रसव वेदना से तड़प रही है, रह–रहकर उसके मुख से दिल हिलाने वाली आवाज निकलती थी जिसे सुनकर घीसू और माधव, कलेजा थाम लेते थे। जाड़े की रात थी और सारा गाँव अंधेरे में डूबा हुआ था। इधर बुधिया के दर्द को बाँधने वाला कोई नहीं था, उनका अपना पति अथवा ससुर भी उसके लिए कुछ भी नहीं कर पा रहा था। यह दलित नारी की पराधीनता का, दीनता का, असहाय अवस्था का स्वरूप या जिसे प्रेमचन्द ने चित्रित किया है।'' नारी की परवशता का बड़ा ही सटीक चित्रण प्रेमचन्द ने अपनी अनेक कहानियों में किया है। स्त्री समाज की आधी आबादी है, परन्तु जीवन की सारी पराधीनता नारी के ही भाग्य में लिखी होती है। इसका कारण यह है कि नारी भारतीय जीवन की रीढ़ होती है और रीढ़ के कमजोर होते ही समाज और परिवार का संतुलन बिगड़ने लगता है। यह सामाजिक विडंबना 'बेटों वाली विधवा' नामक कहानी में देखने को मिलता है। पं0 अयोध्यानाथ का संयुक्त परिवार है। उनके गुजरने पर उनकी पत्नी फूलमती अपने–चार बेटों और बेटी कुमुद को लेकर परिवार चलाने लगती हैं। विधवा होने के पूर्व वे घर की एक मात्र मालकिन थीं, किंतु पति के न रहने पर बेटे और बहुएँ दबंगई दिखाने लगती हैं। पं0 अयोध्यानाथ की तेरही में ही यह दबंगई शुरू हो जाती है। बेटे और बहुएँ अपने मन के अनुसार भोज करते हैं। बेटी का विवाह भी जैसे–तैसे होता है। फूलमती से वे सारे गहने भी झपट लेते हैं। अब तो फूलमती रात–दिन खटती है और बेटे–सुख की नींद सोते हैं। अंत में गंगाजल लाते समय वे फिसलकर नदी में डूब जाती हैं। स्त्री जीवन की विवशताओं और विडंबनाओं पर स्वार्थ एवं लाभ–लोभ–प्रेरित मानसिकता के

चलते चले आ रहे पारिवारिक और मानवीय संबन्धों के ह्रास तथा अधःपतन पर आधारित यह प्रेमचन्द की 'बेटों वाली विधवा' नामक कहानी है जिसमें नारी की पराधीनता का जीवंत चित्र दिखने को मिलता है। इस कहानी के द्वारा लेखक ने संयुक्त परिवार के विघटन के रूप को भी दिखाया है जहाँ पति के रहने पर पूरा परिवार पत्नी के स्वामित्व के अधीन था और पति के गुजरते ही सब कुछ स्त्री की पराधीनता में बदल जाता है। 'शांति' नामक कहानी में भी प्रेमचन्द ने नारी–जीवन की त्रासदी को व्यक्त किया है। लेखक इसमें स्त्री–जीवन की विवशताओं और विसंगतियों पर अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करता है। शांति कहानी एक स्वाभिमानी नारी गोपा की कहानी है जो पति के गुजर जाने पर स्वाभिमान के साथ अपनी बेटी सुनीता को पालती है और बाद में धूमधाम से विवाह कर देती हैं। किन्तु सुनीता की संगति अपने पति के साथ नहीं बैठती है। वह पति के गलत रास्ते को स्वीकार न करके अपने जीवन को ही समाप्त कर लेती है। स्वाभिमानी माँ की बेटी स्वाभिमान से ही जीती है और अंत में वह अपने कारूणिक अंत को ही प्राप्त होती है। बेटी का कारूणिक अंत गोपा को झकझोरता जरूर है किन्तु गोपा भीतर से अपूर्व शांति का अनुभव करती है। वह बेटी की मौत को धैर्य से झेलती है। गोपा कहानी के 'मैं' पात्र से कहती है– 'हाँ और क्या! रोती यहाँ भी लेकिन तुमसे सच कहती हूँ, दिल से नहीं रोयी। न जाने कैसे आँसू निकल आये। मुझे तो सुन्नी की मौत से प्रसन्नता हुई। दुखिया अपनी मान–मर्यादा लिये संसार से विदा हो गयी, नहीं तो न जाने क्या–क्या देखना पड़ता। इसलिए और भी प्रसन्न हूँ कि उसने अपनी आन निभा दी। स्त्री को जीवन में प्यार न मिले, तो उसका अंत हो जाना ही अच्छा। तुमने सुन्नी की मुद्रा देखी थी, लोग कहते है, ऐसा जान पड़ता था– मुस्करा रही है।''भारतीय नारी की यह पीड़ा उसकी पराधीनता का ही रूप है। जिसमें वह दुखी और पराधीन होकर भी गर्व का अनुभव करती है। परवश होकर कष्ट झेलने से अच्छा है मृत्यु को वरण कर लेना, जहाँ शांति तो मिलेगी।

'स्वाभिमानी' नामक कहानी भी ग्रामीण परिवेश में स्त्री–जीवन की विवशताओं और बिडंबनाओं का एक आख्यान है। शिवदास के दो बेटे हैं बिरजू और मथुरा जिनका विवाह रामप्यारी और रामदुलारी से होता है। बिरजू के गुजर जाने पर रामप्यारी विधवा हो जाती है। शिवदास इस से आहत तो हुए, पर टूटे नहीं। उन्होंने भंडारे की चाभी रामप्यारी को थमा दिया। वह स्वामिनी बनकर मुखिया का दायित्व निभाने लगी कि घर खुशियों से भर उठा। समय के साथ शिवदास भी चल बसते है और मथुरा रामदुलारी एवं बच्चों के साथ परदेश चले आते हैं। रामप्यारी अकेले ही घर के नौकर जोखू के साथ खेत–खलिहान की जिम्मेदारी निभाती है। प्रेमचन्द ने कहानी को एक मनोवैज्ञानिक ढंग से खत्म किया है। कहानी के इस अंत में भी स्त्री की मानसिक पराधीनता की अभिव्यक्ति हुई है। जोखू और रामप्यारी में वार्तालाप होता है। स्वामिनी रामप्यारी जोखू से उसके विवाह के बारे में पूछती है। रामप्यारी उससे ठिठोली करती है कि वह अपनी सगाई क्यों नहीं कर लेता। ''जोखू शरमाता हुआ बोला– तुमने फिर वही बेबात की बात छेड़ दी, मालकिन! किससे सगाई कर लूँ यहाँ? मैं ऐसी मेहरिया लेकर क्या करूँगा, जो गहनों के लिए मेरी जान खाती रहे। .....प्यारी के कपोलों पर हलका–सा रंग छा गया। बोली– अच्छा, और क्या चाहते हो?

जोखू – मैं कहने लगूँगा, तो बिगड़ जावगी।

प्यारी की आँखों में लज्जा एक रेखा नजर आयी, बोली–की बात कहोगे, तो जरूर बिगडूँगी।

जोखू – तो मैं न कहूँगा।

प्यारी ने उसे पीछे की ओर ढकेलते हुए कहा– कहोगे कैसे न हीं, मैं कहला के छोडूँगी।

जोखू – मैं चाहता हूँ कि वह तुम्हारी तरह हो, ऐसी ही गंभीर हो, ऐसी ही बातचीत में चतुर हो, ऐसा ही अच्छा खाना पकाती हो, ऐसी ही किफायती हो, ऐसी ही हँस–मुख हो। बस, ऐसे औरत मिलेगी, तो करूँगा, नहीं इसी तरह पड़ा रहूँगा।

प्यारी का मुख लज्जा से आरक्त हो गया। उसने पीछे हटकर कहा– तुम बड़े नटखर हो! हँसी–हँसी में सब कुछ कह गये।'' प्रेमचन्द यहीं पर कहानी का समापन करते हैं और नारी की उस पराधीनता को व्यक्त करते हैं जिसमें वह खुलकर अपने भीतरी मन की अभिलाषा को जाहिर नहीं कर पाती। कहानी के अंत पर डॉ0 शिवकुमार मिश्र की टिप्पणी है– ''कहानी अपनी व्यंजना के साथ यही समाप्त हो जाती है। स्त्री–जीवन की विवशताओं को, स्त्री के अपने चरित्र की गरिमा की पूरी तरह रक्षा करते हुए, स्त्रीत्व की पूरी मर्यादाओं के साथ, अपनी अनेक, कहानियों में प्रेमचन्द्र ने बड़े यथार्थ संदर्भों में उभारा है। स्त्री के प्रति प्रेमचन्द के मन में कितना सम्मान था, स्त्री–जीवन की विवश्ताओं और विडंबनाओं से वे कितने आहत थे, स्त्री को उसके जीवन के विविध सन्दर्भों में पेश करते हुए उन्होंने स्त्री के प्रति अपने दृष्टिकोण, अपनी सोच को बार–बार उभारते और उजागर करने की चेष्टा की है। प्रेमचन्द के यहाँ स्त्री महज अबला होकर नहीं आई है, वह एक योद्धा के रूप में अपनी सारी कर्मठता के साथ अपने जीवन की विषमताओं, विवशताओं और विडंबनाओं से लड़ती हुईं, अपने को परिस्थितियों के अग्निचक्र में डालकर भी कुंदन की तरह निखरी हुई अस्मिता के रूप में ही हमसे ज्यादातर रूबरू हुई है। यह स्त्री के प्रति प्रेमचन्द का सम्मान है, उसके जीवन के प्रति उनके गहरे संवेदनात्मक सरोकारों का साक्ष्य है, जो इस कहानी में और ऐसी ही दूसरी तमाम कहानियों में पूरी जीवंतता के साथ उजागर हुआ है।''

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपनी तमाम कहानियों में स्त्री–चरित्र की पराधीनता को चित्रित किया है। ईदगाह एक ऐसी कहानी है जिसमें बेवा अमीन की परवशता चित्रित है। ईदगाह में जबतक सबलोग हैं, तबतक सभी भाईचारे से बँधे हैं, भेदभाव से ऊपर हैं, बराबर हैं, किंतु जैसे ही नमाज खत्म होती है और लोग ईदगाह से बाहर आते हैं, भाईचारे और बराबरी की दीवार भरभराकर गिर जाती है। जिस के पास पैसे हैं वह मेले का आनन्द लेने लगता है। अमीना ने तीन पैसे देकर हामिद को अकेला भेजा है हामिद उस पैसे से चिमटा खरीदता है, क्योंकि इससे दादी का भोजन बनाते समय हाथ नहीं जलेगा। इस कहानी में नारी की उस पराधीनता का चित्रण हुआ है, जो आर्थिक कारणों से संभव हो सका है। अमीना हामिद के हाथ में चिमटा देखकर चौंक उठती है–

''यह चिमटा कहाँ था?
'मैंने मोल लिया है।'
'कै पैसे में?'
'तीन पैसे दिये।'

अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या यह चिमटा सारे मेले में तुझे और कोई चीज न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया।

हामिद ने अपराधी भाव से कहा– ''तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैंने उसे ले लिया।'' अमीना की यह पीड़ा ऐसी है जो अपने बच्चे हामिद की परवशता के कारण है। अमीना को दुख है कि बच्चा भूखा होगा और हामिद को चिन्ता थी कि दादी का हाथ न जलने पाये। बेवा अमीना कितना दुखी होती है कि हामिद दो बजे तक बिना खाये–पिये रह गया है। धनाभाव के कारण वह तड़पकर रह जाती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में नारी की विवशता और विडंबना का सटीक चित्रण किया है। नारी कहीं आर्थिक कारणों से पराधीन है तो कहीं काल के थपेड़े के कारण अनाथ और विधवा होकर पराधीनता का दंश झेलती है। कहीं दहेज प्रथा के कारण नारी की दुर्दशा होती है। निर्मला, सेवासदन आदि उपन्यास ऐसा है जहाँ नारियाँ दहेज–प्रथा की बलि–वेदी पर शहीद होती हैं। गोदान में विधवा विवाह का दंश है तो आर्थिक कारण भी स्त्री की पराधीनता के लिए जिम्मेदार है। धनिया की संपूर्ण कमाई बीस आना होरी के गोदान में चला जाता है। धनिया विवश है, फिर भी परंपरा का निर्वाह करती है और अपनी सारे दिन की कमाई दान कर देती है। दलित स्त्री सिलिया का ब्राह्मण से विवाह भी स्त्री की पराधीनता की ओर संकेत करता है, क्योंकि समाज उसे जल्दी स्वीकार नहीं करता है। प्रेमचन्द की कहानियों भी स्त्री परवशत का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। कफन, ठाकुर का कुआँ, बूढ़ी काकी, बेटों वाली विधवा, स्वामिनी, शांति आदि ऐसी कहानियाँ हैं जो नारी–जीवन की पराधीनता को चित्रित करती हैं।

संदर्भ सूची–

1. प्रेमचन्द, गोदान, विश्व विजय प्रा0लि0, नई दिल्ली, पृ0 384
2. प्रेमचन्द, निर्मला, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, पृ0 176
3. प्रेमचन्द, सेवासदन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 247
4. प्रेमचन्द, प्रतिज्ञा, अरुणोदय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0 6
5. प्रेमचन्द, गोदान, विश्व विजय प्रा0लि0, नई दिल्ली, पृ0 125–126
6. वही, पृ0 126
7. डॉ0 शिवकुमार मिश्र, कहानीकार : रचनादृष्टि और रचना शिल्प, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 53
8. वही, बूढ़ी काकी, पृ0 151–152
9. वही, कफन, पृ0 202–204
10. वही, बेटों वाली विधवा, पृ0 115
11. प्रेमचन्द, मानसरोवर (शांति) भाग एक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 92
12. वही, स्वाभिमनी, पृ0 112
13. डॉ0 शिवकुमार मिश्र, कहानीकार प्रेमचन्द : रचनादृष्टि और रचनाशिल्प, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 119
14. प्रेमचन्द, मानसरोवर (भाग एक), ईदगाह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 41

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

जनसंचार माध्यमों का प्रभाव : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन (जे०के० महिला छात्रावास महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी पर आधारित)

पूजा देवी
शोध छात्रा–समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
डॉ जयप्रकाश यादव
शोध निर्देशक एवं एसोसिएट प्रोफेसर–समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र जे० के0 महिला छात्रावास महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी पर आधारित है, यह शोध (बी.ए., एम.ए. और पी–एच. डी) के छात्राओ पर जनसंचार माध्यमो के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। जनसंचार का वर्तमान समय मे इसके परिपक्वता की मनोदशा, विचार, संस्कृति आम जीवन शैली एवं दशाओं को नियन्त्रित एवं निर्देशित कर रहा है। इसका प्रभाव अति व्यापक एवं असीमित है। जनसंचार मध्यमों द्वारा समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त हो रहा है।

आधुनिक जनसंचार साधनो में फेसबुक, टिविटर, लिंकर, यूट्यूब, लिंक्डइन, पिंटेरेस्ट, माइस्पेस ऐसे हि अन्य सोशल साइट्स पर इस्तेमाल कर्ताओ को विचार विमर्श, सृजन, सहयोग करने एवं इमेज, आडियो और विडियों के रूपो में जानकारी एवं हिस्सेदारी करने तथा योग्यता और सुविधा प्रधान करता है।

मुख्य शब्द– जनसंचार, जे०के० माहिला, छात्रावास ,इन्टरनेट, सोशल मीडिया, युवाओ, वाराणसी, महानगर।

प्रस्तावना

संचार दुनिया की हर सजीव प्राणी के लिए अति आवश्यक है।चाहे वह मनुष्य हो या पशु हो संचार की प्रक्रिया पायी जाती है। आज के दौर में जनसंचार के अधिकार को मौलिक मानवाधिकार माना जा रहा है।

जनसंचार एवं सोशल मीडिया का प्रयोग वर्तमान में तेजी से बढ़ रहा है, और इसके साथ ही इसका प्रभाव भी बढ़ रहा है। जनसंचार ने समाज के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर रहा है। विशेष कर युवाओं के नैतिक और सामाजिक मूल्यों के साथ यह युवाओं के जीवनशैली और विचारों को प्रभावित कर रहा है। युवाओं के जीवन में जनसंचार एवं सोशल नेटवर्किंग साइट्स ने क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया है । युवाओ पर सोशल मीडिया का प्रभाव बहुत ही गहरा है। ये वो वर्ग है जो सबसे ज्यादा सपने देखता है। और उन सपनो को पूरा करने के लिए पूरा जी जान लगाता है। युवा वर्ग और सोशल मीडिया एक दूसरे से जुङ गये है, जहाँ एक तरफ जनसंचार के साधनों ने युवाओं के सपनो को एक नयी दिशा दे रही है एवं युवा वर्ग अपने सपनों को सकार करने के लिए इस माध्यम का उपयोग कर रहे है। वहीं दूसरी तरफ युवाओं को सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट का नशा सा हो गया है। घंटो तक फेसबुक व टवीटर, यूट्यूब, इंस्टाग्राम जैसे वेबसाइटस पर समय बिताने से न केवल उनकी पढ़ाई प्रभावित हो रही है, बल्कि धीरे– धीरे नया करने की रचनात्मकता भी खत्म हो रही है।

जनसंचार एवं सोशल साइट्स ने लोगो को वास्तविक जीवन को भुलाकर आभासी जीवन में रहने को मजबूर कर दिया है। इन सोशल–साइट्स आदत के कारण छात्र–छात्राओ में व्यक्तिगत संवाद की दिक्कत

होती है, जिससे वे सामाजिक रूप से प्रभावी संवाद या विचार विमर्श नहीं कर पाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप आज के युवा पीढ़ी में धैर्य की भारी कमी देखी जा सकती है।

जनसंचार सामूहिकता का आधार है, संचार संदेशों को देने और संदेशों को प्राप्त करने की प्रणाली है। समाजीकरण, सामाजिक परिवर्तन तथा समाजिक नियन्त्रण, जनसंचार माध्यमों की वे तीन प्रमुख समाजिक प्रक्रियाएं है, जो जनसंचार की सामाजिक भूमिकाओं का आधार है। वर्ष 1702 में लन्दन में पहला नियमित दैनिक समाचार पत्र 'डेली काउटेंट' समुअ बकले द्वारा प्रकाशित किया गया,जनसंचार क्षेत्र की विकास का यात्रा आधुनिकतम चरण इलेक्ट्रानिक जनसंचार माध्यमो के अविष्कार तथा उपयोग का है। इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार माध्यमो मे रेडियो, टेलीविजन, इन्टरनेट, सोशल मीडिया साइट्स शामिल है। जनसंचार माध्यम या मास मीडिया का तात्पर्य ऐसी तकनीक अथवा उपकरण से है, जिसके द्वारा समान संदेश लगभग एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों के बीच पहुंचाया जा सके ।

सामाजिक जनसंचार शास्त्री जे कार्नर के मत से जनसंचार सन्देशो के बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा वृहद स्तर पर विषम वर्गीय जनसमूहों में दुतगामी वितरण करने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में जिन उपकरणों अथवा तकनीको का उपयोग किया जाता है, उन्हें जनसंचार माध्यम कहा जाता है।

अमेरिका के कैलिफोर्निया में 14 फरवरी 2005 को ऑनलाइन वीडियो शेयरिंग प्लेटफार्म यूट्यूब लॉन्च हुआ था। बाद में गूगल ने अधिकृत कर लिया। आज यूट्यूब पर दुनिया भर में लगभग 2.5 अरब मासिक यूजर है,लेकिन इस पर हर महीने औसतन 29 घंटे युवा अपना समय खर्च कर रहे हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

1 छात्राओं पर आधुनिक जनसंचार माध्यमो के प्रभाव का अध्ययन करना।

2 जनसंचार माध्यमों से छात्राओं में जागरूकता का अध्ययन करना।

उपकल्पना

जनसंचार माध्यमो से छात्राओं में शिक्षा के प्रति जागरुकता आयी है।

अध्यापन क्षेत्र–

प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र उत्तर प्रदेश के वाराणसी महानगर के महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ है। ऐतिहासिक युग में वाराणसी महानगर भारत के प्रमुख महानगरो मे से एक रहा है। यहा विभिन्न प्रकार के धर्मो, भाषाओ, त्योहारो,वेषभूषा अदि के लिए यह नगर मनोरन संगम स्थली रही है।

यहा धर्म, व्यापार,शिक्षा की दृष्टि से वाराणसी महानगर का विशेष महत्व रहा है। वाराणसी के ऐतिहासिक,धार्मिक एवं सामाजिक स्थल आदि काल से ही पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र बिंदु रहा है। जैसे–बारह ज्योतिर्य लिंगो में बाबा विश्वनाथ मंदिर, संकट मोचन, दुर्गा मन्दिर, मानस मन्दिर, गंगा घाट आदि वाराणसी के प्रमुख धार्मिक एवं दर्शनीय स्थल है।

समग्र एवं निदर्श

वाराणसी जिले में स्थित महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के जे. के. महिला छात्रावास में निवासित 50 छात्राओ का चयन सोद्देश्य पूर्ण निदर्शन विधि से किया गया है। इस शोध पत्र में मूल रूप से प्राथमिक स्त्रोतों का प्रयोग किया गया है। इस अध्ययन के लिए वैयक्तिगत साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से आकडा एकत्रित किया गया है।

इस शोध पत्र को पूर्ण करने में द्वितीयक स्त्रोतो के रूप में पुस्तक, जर्नल्स, पत्र, पत्रिकाएं, इंटरनेट आदि का भी प्रयोग किया गया है।

उत्तरदाताओं पर जनसंचार माध्यमों के प्रभाव की स्थिति

अध्ययन के अन्तर्गत उत्तरदाताओं से उन पर जनसंचार मध्यमों के प्रभाव सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया है प्राप्त आकड़ो को निम्न लिखित तालिका में प्रस्तुत किया गया है।

सारणी संख्या–1

जनसंचार साधनों के उपयोग के आधार पर उत्तरदात्रियो का विवरण

क्र0सं0	जनसंचार साधनो का उपयोग	आवृत्ति छात्राओं की संख्या	प्रतिशत
1	टेलीविजन	–	–
2	स्मार्टफोन	21	42 प्रतिशत
3	कम्प्यूटर	–	–
4	प्रिंट मिडिया समाचार पत्र–पत्रिकाएँ (मुद्रित माध्यम)	–	–
5	उपरोक्त सभी	29	58 प्रतिशत
	योग	50	100

सारणी संख्या 1 के आकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 0 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने टेलीविजन का उपयोग 42 प्रतिशत उत्तरदात्रियों स्मार्टफोन का उपयोग करती है। 0 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने कम्प्यूटर प्रिट मीडिया सामाचार पत्र–पत्रिकाओं का उपयोग करती है 58 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने उपरोक्त सभी का उपयोग करती है।

अतः सारणी के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक उत्तरदात्तियो ने उपरोक्त सभी जनसंचार साधनों का उपयोग करती है। जिसका प्रतिशत 58 है।

सारणी संख्या–2

जनसंचार को शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित कारक के आधार पर उत्तरदात्रियों का विवरण

क्र0सं0	शिक्षा के क्षेत्र में	छात्राओं	प्रतिशत
1	हाँ	50	100 प्रतिशत
2	नहीं	–	–
	योग	500	100 प्रतिशत

सारणी संख्या 2 के आकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 100 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का मत है कि जनसंचार ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया है, 0 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का मत है कि जनसंचार ने शिक्षा को प्रसोत्साहित नहीं किया है।

सारणी संख्या–3

जनसंचार माध्यमों के अधिक प्रयोग से स्वास्थ्य को प्रभावित कारक के आधार पर उत्तरदात्रियों का विवरण

क्र0सं0	स्वास्थ्य को प्रभावित कारक	छात्राओ की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	50	100 प्रतिशत
2	नहीं	–	–
	योग	50	100 प्रतिशत

सारणी संख्या 3 के आकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 100 प्रतिशत उत्तरदात्रियो का कहना है कि जनसंचार माध्यमो के अधिक प्रयोग से स्वास्थ्य प्रभावित होता है। 0 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है कि जनसंचार के अधिक प्रयोग से स्वास्थ्य प्रभावित नहीं होता है।

सारणी संख्या–4

आधुनिक जनसंचार से वैवाहिक स्थिति को प्रभावित कारक के आधार पर उत्तरदात्रियों का विवरण

क्र0सं0	वैवाहिक स्थिति प्रभावित	छात्राओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	43	86 प्रतिशत
2	नहीं	7	14 प्रतिशत
	योग	50	100 प्रतिशत

सारणी संख्या 4 के आकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 86 प्रतिशत उत्तरदात्रियों का कहना है कि आधुनिक जनसंचार से वैवाहिक स्थिति को प्रभावित किया है, तथा 14 प्रतिशत उत्तरदात्रियो का कहना है कि आधुनिक जनसंचार ने वैवाहिक स्थिति को प्रभावित नहीं किया है।

अतः सारणी के अध्ययन से स्पष्ट होता है, कि सर्वाधिक उत्तरदात्तियो ने आधुनिक जनसंचार से वैवाहिक स्थिति को प्रभावित कारक मानती है। जिसका प्रतिशत 86 है।

सारणी संख्या 5

स्मार्ट फोन पर खर्च समय के आधार पर उत्तरदात्रियो का विवरण

क्र0सं0	स्मार्टफोन पर खर्च समय	छात्राओ की संख्या	प्रतिशत
1	0 से 2 घण्टे	5	10 प्रतिशत
2	2 से 4 घण्टे	6	42 प्रतिशत
3	4 से 6 घण्टे	15	30 प्रतिशत
4	6 से अधिक	24	48 प्रतिशत
	योग	50	100 प्रतिशत

सारणी संख्या 5 के आकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 10 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 0 से 2 घण्टे स्मार्ट फोन पर खर्च करती है, 12 प्रतिशत उत्तरदात्रियो ने 2 से 4 घण्टे स्मार्ट फोन पर खर्च कर रही है, 30 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 4 से 6 घण्टे स्मार्टफोन पर खर्च कर रही है और 48 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 6 से अधिक घण्टे स्मार्ट फोन पर खर्च कर रही है।

अतः सारणी के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक 6 से अधिक घण्टे स्मार्ट फोन पर खर्च कर रही है। जिसका प्रतिशत 48 है।

निष्कर्ष

जनसंचार के प्रभाव का मूल्यांकन अति महत्वपूर्ण है,क्योंकि ये प्रभाव उनके वयस्क व्यवहार और भविष्य के समाजों को आकार प्रदान करेंगे

सारणी संख्या 1 में उत्तरदात्रियों के जनसंचार साधनों का उपयोग से संबंधित सूचनाओं का विवरण दिया गया है। जिसमे उपयोगी साधनों को पांच भागों में बांटा गया है। टेलीविजन,स्मार्टफोन, कंप्यूटर, प्रिंट मीडिया, उपरोक्त सभी। सर्वाधिक 58 प्रतिशत छात्राएं उपर्युक्त सभी तथा 42 प्रतिशत छात्राएं स्मार्टफोन का उपयोग कर रही हैं

सारणी संख्या 2 में उत्तरदात्रियों के शिक्षा के प्रति प्रोत्साहन संबंधी विवरण दिया गया है। जिसमें सर्वाधिक 100 प्रतिशत उत्तरदात्रियों के मताअनुसार जनसंचार शिक्षा के प्रोत्साहन किया है

सारणी संख्या 3 में स्वास्थ्य को प्रभावित कारक संबंधी विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 100 प्रतिशत उत्तरदात्रियों के मताअनुसार जनसंचार माध्यमों के अधिक उपयोग से स्वास्थ्य प्रभावित होता है

सारणी संख्या 4 में आधुनिक जनसंचार से वैवाहिक स्थिति को प्रभावित कारक संबंधी विवरण के विश्लेषण से स्पष्ट होता है की सर्वाधिक 86 प्रतिशत उत्तरदात्रियों के मताअनुसार वैवाहिक स्थिति प्रभावित होती है,जबकि मात्र 14 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने इससे सहमति नहीं रखती है।

सारणी संख्या 5 मे उत्तरदात्रियों द्वारा स्मार्टफोन पर खर्च समय के आधार से संबंधित विवरण के विश्लेषण सर्वाधिक 48 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 6 से अधिक घंटे जबकि 30 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 4 से 6 घंटे तथा 12 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 2से 4घंटे एवं 10 प्रतिशत उत्तरदात्रियों ने 0 से 2 घंटे समय स्मार्टफोन पर खर्च करती हैं।

सुझाव

1. युवा वर्गों को सोशल मीडिया का उपयोग एक समय सीमा तक करना चाहिए, ताकि इसकी लत न लगे।
2. युवतियों तथा युवाओं को सोशल मीडिया के माध्यम से केवल उपयोगी और सकारात्मक बातों को ही आत्मसात हेतु करना चाहिए।
3. जनसंचार एवं सोशल मीडिया प्लेटफार्म पोस्ट पर लाइक और फालोवर्स को देखने के लिए बार–बार सोशल मीडिया को चेक करते रहते हैं। इसस उनके समय की बर्बादी होती है। इससे उन्हें बचना चाहिए।
4. युवा पीढ़ी अपनी शारीरिक और मानसिक क्रियाशीलता को अनदेखा कर सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। इससे उन्हें शारीरिक और मानसिक व्याधियों का सामना करना पड़ता है।
5. सोशल मीडिया के कारण जहाँ एक ओर सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार हुआ है, वहीं पारिवारिक सदस्यों में दूरियाँ बढ़ी हैं। इसे रोकने के लिए आवश्यक है कि अपने पारिवारिक सदस्यों से जुड़े रहें।
6. जनसंचार व सोशल मीडिया का उपयोग अपने ज्ञानवर्धन एवं शिक्षा और खाली समय में मनोरंजन हेतु करना चाहिए।

संदर्भ सूची–

1 चोपड़ा लक्ष्मेन्द्र,जनसंचार का समाजशास्त्र आधार प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, 2002।
2 हिन्दुस्तान वाराणसी संस्करण 15 फरवरी 2025 पृष्ठ संख्या 24।
3 अमर उजाला,वाराणसी संस्करण, 5 दिसम्बर 2024,पृष्ठ संख्या 10।
4 हिन्दुस्तान अनोखी वाराणासी संस्करण 10 मार्च 2024, पृष्ठ संख्या 5।
5 हिन्दुस्तान वाराणसी संस्करण, 7 मार्च 2024, पृष्ठ संख्या 1।
6 सहाय निरंजन, जनसंचार माध्यम और विशेष लेखन, लोकभारती प्रकाशन 2021।
7 कुमार जे.केवल, भारत में जनसंचार जायको पब्लिशिंग हाउस 2023।
8 अमर उजाला वाराणासी संस्करण 30 नवम्बर 2024 पृष्ठ संख्या 4।

Social Mobility in India: Reviewing Related Socio-historical Context

Dr. Rahul Pandey
Assistant Professor-Dept. of Sociology
Late. Dr. R. S. Tolia Government P. G. College,
Munsyari, Pithoragarh. Pin code, 262554
E-mail. Rahulpandey94512@gmail.com

Abstract:

In the evolutionary process of human civilization and culture, social stratification has inevitably been observed in every society around the world, in either open, closed or both forms. In the traditional Indian social structure, stratification and inequality were based on the varna and jati systems. The caste system, as an ancient Hindu institution, was based on the socio-cultural beliefs of varna, karma and dharma. Scholars over different periods have attempted to examine the process of social stratification and mobility along the lines of caste, class, race, gender and digital divide. This nature of the caste system denied opportunities for mobility to the lowest social groups in society. This system hindered social mobility among disadvantaged groups. Over time, a variety of endogenous and exogenous processes paved the way for social mobility. Rural-urban interactions, caste-class nexus, socio-technological changes and formation of new classes are giving rise to new patterns of mobilization that are replacing traditional social structures. These factors played a significant role in this process of status elevation. The vision Viksit Bharat @2047 is focused on ensuring social mobility for the weaker sections of the society as well. In this context, the present research paper unmasks the social reality by re-examining the emerging patterns of caste, stratification and social mobility among Indian society in general and Dalits in particular.

Key Words: Dalits, Mobility, Society, Stratification, Structure.

Introductory Remarks on Caste, Structure and Social Dynamics:

The caste system is the main basis of social stratification in Indian society. Social structure refers to the persistent patterns of social interaction that exist between social groups. Social stratification is the ranking of individuals and groups on the basis of power, prestige, privilege, wealth, occupation and education while social mobility is the movement of individuals and groups from one position to another in a hierarchical system. Saunders (2019) explained, social mobility refers to the movement of an individual from one socio-economic position to another. The varna system began to emerge and develop in the Vedic period, yet there was still some degree of openness. According to the RigVeda, the division of Indian society into Aryan and non-Aryan was the first indication of stratification. Aryan society was further divided into four groups based on profession. These four classes were called Brahmana, Khastriya, Vaishya and Shudra or Dasa. Castes outside the four-fold varna system were called Dalits and Panchamas. People in this group were socio-culturally backward, economically disadvantaged, and politically marginalized. In the

western approach to understand the Indian caste system, the methods of the orientalists, missionaries and colonial administrators depicted caste as a closed stratification system. Although the nature of the caste system was based on hierarchy, inequality, differences, hypergamy, heredity and rigidity. Caste is an ancient social institution and closed stratification system in Indian society. This hindered the social mobility of the fifth varna outside the four-fold varna system. Dumont (1960) characterized Indian society as one of holism and hierarchy while Western society as one of individualism and equality. In the Indian caste system, positional changes are taking place within the social structure but the structure itself is not changing. Thus, scholars have attempted to interpret social dynamics in the caste system from both the book view and the field view. Both of these perspectives consider caste to be central to social stratification and mobility. Due to this rigidity and heredity, Western scholars considered caste as a closed stratification system in which mobility did not exist among lowest strata of the society. On the contrary, Indian sociologist and anthropologist Srinivas and many scholars have analyzed the social mobility in Indian society from a field view perspective through the concept of sanskritization and westernization in his book Religion and Society among the Coorgs of South India and Social Change in Modern India. Sanskritization is the process by which a "low" Hindu caste, or a tribe, or other group, changes its customs, rituals, ideology, and way of life in the direction of a higher, often "twice-born" caste. Occasionally, after one or two generations, that caste starts claiming higher position in the local hierarchy. This indicates a positional change and not a structural change.

Major Research Objectives:

- To investigate the socio-historical context of social mobility
- To study social mobility in different periods of time.
- To explore the pathways of social mobility.
- To critically evaluate the current state of mobility in India.

Theoretical and Conceptual Framework of Social Stratification and Mobility

There is a lot of debate among sociologists about the nature and pattern of social mobility among Dalit groups in ancient, medieval and modern times. The French and industrial revolutions had deeply influenced the world's thought and work system. These processes provided new opportunities and dimensions of mobility to the weaker sections of the society. In this vein, the theoretical and empirical beginnings of social mobility studies began in 1927 with Sorokin's book Social Mobility. The theories and concepts of social stratification are rooted in functionalism, Marxism and the Weberian framework. Functionalists have portrayed social stratification as an inevitable process for social order, solidarity and integration. In contrast to functionalism, the conflict theorists have considered social stratification to be exploitative and oppressive. Social scientific research has attempted to understand social mobility from a single perspective of occupation and a multiple perspective of education, career, and income. The closed nature of the caste system in India has allowed the pace, pattern, and avenues of social mobility to be analyzed from multiple perspectives. The theoretical framework of social mobility consists of two sets of four theories that are interrelated. Within these theoretical frameworks of social mobility, S M

Lipset and Hans L Zittersberg's theory of social mobility, The theory of status-congruence by Roman, Merton's theory of reference group behavior, and the theory of ethnocentric and contra-identification by Paranjape.

Influences of Socio-religious Reform Movements

Jyotiba Phule opposed the Indian caste system and campaigned for the upliftment of the backward, exploited, and disadvantaged groups. He wrote a significant Marathi play Tritiya Ratna and two famous books, Gulamgiri and Sarvajanik Satyadharma, to raise awareness among the lower castes against Brahminical ideology. He also founded the Satyashodhak Samaj in 1873, which encouraged women, the backward, and the underprivileged to seek truth. In the same sequence, Ramaswami's Self Respect Movement, Sri Narayana Guru's SNDP, Vaikom Satyagraha strengthened the voice of lower groups. Thus, movements for caste reform and status upliftment of backward castes started in different parts of India. These socio-religious reform movements stimulated mobility among lower status groups. Ambedkar (1936) considered the caste system a barrier to the social mobility of the weaker sections of society due to graded inequality. The inequality and discrimination of the caste system hindered the mobility of Dalit castes and disadvantaged groups. To ensure social mobility, he launched socio-religious reform movements, abolition of the caste system, political representation within constitutional provisions, positive discrimination and affirmative policy for reservation, and implemented socio-economic justice and inclusion for status upliftment. His famous slogan in this direction was "Educate, Agitate, Organise".

Mapping of Social Stratification and Mobility in India:

Social stratification is a system in any society that categorizes social groups into different strata based on socio-economic and political factors such as power, property, prestige, income, and education. Gisbert (2010) highlighted that social stratification is the system of dividing society into certain permanent groups and categories. Within this system, all groups and categories are bound by relationships of superiority and subordination.

Differentiation, ranking, evaluation and rewards are the key elements in shaping the process of social stratification in society (Davis and Moore, 1945). The four ancient forms of social stratification are classified by scholars into slavery, caste, estate and social class systems. Whereas, social mobility refers to the shift of an individual or group from one social position to another. Social mobility refers, any transition of an individual or social object or value or anything has been crate are modified by the human activity form one social position to another (Sorkin, 1959). After independence, a variety of efforts under the democratic system provided new impetus to mobility among the excluded groups of society. The avenues of social mobility existed in Indian society since ancient times. Despite caste taboos in Indian society, different castes and sub-castes members were bound by the *Jajmani* system. William Wiser (1936) in his study of Indian rural society, observed that the village as a social organisation was hierarchical but the social relations between different caste groups in the rural community were based on an underlying sense of 'reciprocity' and interdependence. M.N. Srinivas (1962) has described the connections between different castes

in Indian society through vertical solidarity and horizontal solidarity. Vertical solidarity involves interdependence between different castes within the same village, relying on others for specific services. In contrast, horizontal solidarity refers to the bonds found between members of the same caste group in different regions, who share similar customs, beliefs, and traditions.

In sociological research, social mobility has been analyzed at the micro level in terms of the individual, at the meso level in the context of the group, and at the macro level in forms of the larger social structure. The direction of social mobility can be observed in the form of horizontal-vertical, intergenerational-intragenerational, upward-downward, etc. Horizontal social mobility involves a change in one's job but remains unchanged in one's social status. This is seen in religious, political, and regional changes. Vertical social mobility is the upward or downward shift of an individual or group from one social position to another. Here, intragenerational mobility is measured as advancement in an individual's personal career, while intergenerational mobility measures an individual's social position relative to their parental career. The direction of social mobility can be both upward and downward. Moving from a current social position to a higher position is called social climbing, and moving from a lower position is called social sinking. Turner identified two normative models of upward social mobility: sponsored and contested. In sponsored mobility, elites select and train individuals for higher positions, while in contested mobility, individuals achieve status change through merit, competition, and selection.

Review of Related Literatures:

Now, even though Indian society is not open, it is no longer a closed society (Mukerji, 1948). According to Panikkar (1955) the dynasties of the fifth century BCE belonged to various castes. Bailey (1957) analyses the economic, political and social structural changes in Bisipara village in the Kondmals of Orissa in the interrelationships of market land, caste and social mobility. Upward and downward social mobility can be observed only among the middle castes.

Indian society was based on the recognition of varna and sub-caste. Here, vertical mobility was possible for the sub-caste as a whole and it was up to the entire group to act as one and change both its location and function (Srinivas,1962). Beteille's (1965) analysis focuses on the interplay between caste, class, and power. While caste hierarchies are weakening, caste still influences social identity and relationships, economic modernization, education, and political participation have enabled mobility. Srinivas stated that social mobility in medieval India was based on fission whereas in modern India on fusion (Srinivas,1966). Brij Raj Chauhan, a structural-functionalist sociologist, analyzed rural and urban interaction using participatory study methods. Indian villages are no longer self-sufficient, homogeneous, isolated, and static. He analyzed (1967) the social contour of the village *Ranawaton-ki-Sadri*, inter-caste relations, the Chokhala, inter-village networks based on caste and sub-caste that regulate community exchange and control within their caste, the economy, ritual structures, educational development, and so on. There is continuity in various aspects of the village, and the process of change is dynamic.

Stein (1968) observed the medieval period as a period of familial mobility and modern India as a period of ‘corporate’ mobility. Modern means of communication and political power

enhanced corporate mobility. Stein proposed that despite the rigidity of the caste system in medieval India, many examples of social mobility can be seen in the example of lower castes taking over the rule in political systems. Thus, the Middle Ages are characterized by individual family dynamics and the modern age by corporate mobility. Post-independence India brought significant educational and economic changes to the status of backward castes. Social scientists, in their research on mobility, have mostly focused on cultural mobility rather than social mobility. Social mobility can be observed at the individual level through occupational changes, improved education, and migration processes. Compared to cultural mobility, social mobility is occurring at a micro-level within lower-status castes (Abraham and Subramania,1974). Thapar (1974) explained that in the early period of the origin of the caste system, social mobility could also be achieved by becoming an ascetic and rebirth into a higher caste. Additionally, limited horizontal mobility was permissible for the Brahmin, Kshatriya, and Vaishya varna elites in ancient India. Downward mobility was easy and upward mobility was very difficult at the individual level, while group mobility could be achieved by changing in occupation, habitat, and geographical location. India's traditionally hierarchical society is moving towards modernity and equality despite persistent challenges (Sharma, 1984). Scott (1985) stated in his study of the Malay society of the Malaysian Sedaka village, observed how mobility was closely linked to land, income, and kinship. Skilled and professional occupations offer opportunities for social mobility among Scheduled Castes, yet they are relatively less than those among non-Scheduled Castes (McMillan, 2005).

Ray & Majumdar's (2010) study of intergenerational mobility in educational and occupational attainment across different ethnic groups revealed that occupational mobility is lower than educational mobility and varies regionally, and is strongly influenced by labour market and historical discrimination. Growing opportunities in urban India have led to increased migration, which Subramaniam and Jayraj (2015) call spatial mobility. This mobility can be observed in four areas: rural to rural, rural-urban, urban-rural and urban-urban. Vaidya (2016) through his research paper, based on the exploration of the role played by education as a mediator of inter-generational social mobility in India, found that education is an important dimension of social mobility. However, caste and class are important factors influencing mobility. Sharma (2017) observed that the correlation between caste and occupation is breaking down. Agricultural, commercial, and urban occupations are no longer caste-based. A variety of government measures have accelerated social mobility. There was vertical mobility in the varna and caste system. But this does not negate the myth of natural superiority behind the varna system. Even at that time, not all kings belonged to the Kshatriya varna (Gupta, 2000). Ram (2020) highlighted that After independence, the Government of India launched protective, welfare and development measures to upgrade the status of Scheduled Castes. This gave rise to a new middle class distinct from the general middle class of India. Social mobility among Scheduled Castes is possible through corporate and competitive processes. These mobilities have been reflected in welfare measures and anti-upper caste attitudes (Sharma, 2020). Lipset and Bendix (1959) argued on the basis of comparative analysis of collected data, observed social mobility in Western society to be determined by occupational structure rather

than by political institutions, historical legacies or other such variables. Joseph (1965) analyzed social mobility in Italy by measuring it across several occupational categories, finding that rates of upward and downward mobility in Italy are broadly comparable to those found in various other industrialized countries over the previous two decades. Goldthorpe (1987) divided the respondents into three broad categories, placing professionals or managers at the top, followed by the intermediate class in the middle, and semi- and unskilled workers at the bottom. Using quantitative methods in his study of social class and mobility in Britain, observed that intergenerational mobility and the role of education in mobility, that improvements in education alone are not sufficient for social mobility.

In the end:

In sum up, social mobility among lower social groups in Indian society is a subject of interdisciplinary inquiry among Indian and Western scholars. The portrayal of class as an open and caste as a completely closed system of stratification is a monocausal interpretation of multilayered reality. Researchers have analyzed the pathways of socio-cultural mobility in the Indian caste system in ancient, medieval and modern times. Social mobility in Indian society is observed at micro, meso and macro levels, both within individuals and groups. Improvements in education, income and migration have spurred upward social mobility. The correlation between caste and occupation is rapidly breaking down. Social acceptance is also emerging in everyday interactions, such as eating and living habits. The socio-cultural, economic and political changes in contemporary society have brought about social dynamics and status elevation in excluded groups. Socio-religious reform movements, diversified economic activities, market access, constitutional initiatives and measures have expanded the range of social justice, inclusion, and upward mobility to disadvantaged groups.

References:

1. Abraham, M. Francis and Subramania, R. 1974. “Patterns of Social Mobility and Migration in a Caste Society”, *International Review of Modern Sociology*, SPRING, 1974, Vol. 4, No.01, pp. 78-90.
2. Ambedkar, B R. 1936. *Annihilation of Caste*, New Delhi, Rupa Publication.
3. Bailey, F. G.1957. *Caste and the Economic Frontier*. Manchester: Manchester University Press.
4. Beteille, Andre. 1965. *Caste Class and Power: Changing Patterns of Stratification in Tanjore Village*, New York: Oxford University Press.
5. Bhatt, Anil. 1971. “Politics and social mobility in India”, *Contributions to Indian Sociology* 5 (1), 99-114, Sage journals.
6. Chauhan, Brij Raj. 1967. *A Rajasthan Village*, New Delhi: Veer Publishing House.
7. Davis Kingsley. And Moore, Wilber E. 1945. “Some Principles of Stratification”, *American Sociological Review*, Vol. 10, No. 2, pp. 242-249.
8. Dumont, Louis. 1960. *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications*, Delhi: Oxford University Press.

9. Gupta, Dipankar. 2000. *Interrogating Caste: Understanding Hierarchy and Differences in Indian Society*, Haryana: Penguin Books India.
10. Lipset, Seymour Martin. and Bendix, Reinhard.1959. *Social Mobility in Industrial Society*, Berkeley: University of California Press.
11. Lopreato, Joseph.1965. "Social Mobility in Italy". *American Journal of Sociology*, Vol. 71, No. 3, pp. 311.
12. Gisbert, Pascaul. 2010. F*undamental of Sociology*, Delhi: Orient Black Swan.
13. Goldthrope, John H. 1987. *Social Mobility and Class Structure in Modern Britain*, UK: Clarendon Press.
14. McMillan A. 2005. *Standing at the Margins: Representation and Electoral Reservation in India*. New Delhi: OUP.
15. Mukherji, Dhurjati Prasad. 1948. *Modern Indian Culture: A Sociological Study*,
16. Paul, S.K. 2007. "Dalit literature: A Critical Overview". In A.N. Prasad and M.B. Gaijan (Eds.), *Dalit literature: A Critical Exploration*, (pp. 271–92). New Delhi: Sarup & Sons.
17. Saunders, Peter .2019. *Social Mobility Truth*, London: Civitas.
18. Prasad, Amar Nath, M.B. Gaijan.2007. *Dalit Literature: A Critical Exploration* (Eds), New Delhi: Sarup and Sons.
19. Ram, Nandu .2020. *The Mobile Scheduled Castes: Rise of a New Middle Class*, New Delhi: Hindustan Publishing Corporation Press.
20. Ray, Jilham. & Rajarshi, Majumdar. 2010. "Educational and Occupational Mobility across Generations in India: Social and Regional Dimensions", *Indian Journal of Labour Economics*, 53(4), 1-29.
21. Scott, James.C. 1985. *Weapons of the Week: Everyday Forms of Peasant Resistance*, Yale University.
22. Sharma, K. N. 2017. "Occupational Mobility of Castes", in K. L. Sharma (ed.), *Social Inequality in India: Profile of Caste, Class and Social Mobility*, Jaipur: Rawat Publications.
23. Sharma, K L. 2020. *Indian Social Structure and Change*, Jaipur: Rawat Publications
24. Sharma, R S. 1984. *Indian Society Historical Probings: In Memory of D D Kosambi*, New Delhi: People's Publishing House.
25. Singh, Yogendra. 1973. *Modernization of Indian Tradition*: *A Systematic Study of Social Change*, Delhi: Thomson Press (India) Limited.
26. Sorokin, Pitirim. A. 1959. *Social and Cultural Mobility*, USA: The Free Press.
27. Srinivas, M. N. 1962. *Caste in Modern India and Other Essays*. Mumbai: Asia Publishing House.
28. Srinivas, M. N. 1966. *Social Change in Modern India. Berkeley*: University of California Press.
29. Stein, Burton .1968, "Social Mobility and Medieval South-Indian Hindu Sects", in J. Silverberg (ed.), Social Mobility in the Caste System in India. The Hague: Mouton.

30. Subramaniam, A., and D Jayraj. 2015. "Growth and Inequality in the Distribution of India's Consumption Expenditure", *Economic and Political weekly*, Vol.50, No.32.
31. Thapar, Romila. 1990. *A History of India*, London: Penguin group, Vol-1.
32. Thapar, Romila. 1974. "Social Mobility in Ancient India with Special Reference to Elite Groups". In: R. S. Sharma and Vivekanand Jha (eds.), *Indian Society: Historical Probings*, New Delhi: Peoples Publishing House.
33. Vaid, Divya. 2016. "Patterns of social mobility and the role of education in India".Contemporary South Asian, 24 (03), 285-312. Francis and Taylor.
34. Wiser, William. Henricks. 1936. *The Hindu Jajmani System*. Lucknow: Lucknow Publishing House.

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

किन्नर समाज और धार्मिक परिवेश

प्रो० मंजु मिश्रा
हिंदी विभाग
महाराज बलवंत सिंह पी०जी० कॉलेज
गंगापुर,वाराणसी

सारांश

भारतीय समाज में किन्नर समाज एक प्राचीन, विशिष्ट एवं उपेक्षित सामाजिक वर्ग रहा है। धार्मिक ग्रंथों, पौराणिक कथाओं तथा लोकविश्वासों में किन्नरों को विशेष स्थान प्राप्त है। इसके बावजूद सामाजिक यथार्थ में यह समुदाय भेदभाव, हाशियेकरण और असमानता का शिकार रहा है। हिंदी कथा–साहित्य ने समय–समय पर समाज के हाशिए पर खड़े वर्गों को स्वर दिया है। किन्नर समाज लंबे समय तक साहित्यिक विमर्श से लगभग अनुपस्थित रहा, किंतु समकालीन हिंदी कहानियों में यह वर्ग संवेदना, यथार्थ और सामाजिक आलोचना के साथ उपस्थित हुआ है।किन्नर समाज, जिसे तृतीय लिंग के रूप में जाना जाता है। आधुनिक और उत्तर–आधुनिक हिंदी कथा साहित्य में किन्नर जीवन को मानवीय दृष्टि से देखने का प्रयास हुआ है। यह परिवर्तन सामाजिक चेतना के विकास का संकेत है।

कुंजी शब्द : किन्नर समाज, विमर्श,धर्म, पौराणिक, परंपरा, सामाजिक दृष्टि, भारतीय संस्कृति, तृतीय लिंग, मानवीय दृष्टि ।

भारतीय समाज बहुलतावादी एवं विविधतापूर्ण रहा है। यहाँ जाति, वर्ग, लिंग और धर्म के आधार पर समाज की संरचना विकसित हुई है।किन्नर समाज, जिसे आज तृतीय लिंग (Third Gender) के रूप में पहचाना जाता है, प्राचीन काल से भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का हिस्सा रहा है। धार्मिक ग्रंथों में जहाँ किन्नरों को दैवीय शक्ति से युक्त माना गया, वहीं सामाजिक व्यवहार में उन्हें हाशिये पर रखा गया। यह विरोधाभास ही इस शोध–पत्र का मूल आधार है।भारतीय सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार है कि कुछ जातियों एवं समुदायों को छोड़कर बाकी सभी को हेय समझ गया है।वे सिर्फ जन्म से मनुष्य है। उनके साथ हमेशा पशुतापुर्ण व्यवहार किया गया।इन समुदायों में जिन्हें हमेशा हासिये पर रखकर अपमानित जीवन जीने को विवश किया गया। उनमें स्त्री,दलित, आदिवासी के साथ–साथ एक ऐसा समुदाय भी है, जिन्हें किन्नर/तृतीय लिंगी कहा जाता है।

किन्नर समुदाय अपने आप में एक अलग संप्रदाय माना जाता है। जिसकी अपनी धार्मिक मान्यता एवं परिवेश हैं। यह धार्मिक मान्यताएं एवं परिवेश सामान्य जनमानस की धार्मिक भावनाओं से अलग होती हुई भी उन्हीं में सम्मिलित है, क्योंकि किन्नर व्यक्ति समुदाय में शामिल होने से पूर्व सामान्य परिवार में ही जन्म लेता है। किन्नर की धार्मिक स्थिति को निम्न आधारों पर समझ सकते हैं।

उपास्य देवी–देवता

भारत में विभिन्न प्रकार के धर्म है और उनकी अपनी–अपनी संस्कृति एवं सामाजिक जड़े हैं।अर्चना या सेवा पद्धति भी सभी धर्म की अलग–अलग है। विभिन्न समुदायों की तरह ही किन्नर समाज भी अपना अस्तित्व रखता है। इसलिए किन्नर की भी अपनी धार्मिक मान्यताएं हैं, जो उनके विचारों एवं व्यवहारों में झलकता है।

जिस प्रकार भारत के विभिन्न धर्मो, समुदायों के अपने–अपने उपास्य देवी–देवता है उसी प्रकार किन्नर के भी अपने उपास्य देवी– देवता है। जिनकी आराधना वे करते हैं।

किन्नर समाज के सभी लोग बुचरा माता को अपनी कुलदेवी मानते हैं एवं उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा प्रकट करते हैं। किन्नर कथा में बुचरा माता का परिचय तारा किन्नर के डेरे से प्राप्त होता **है।"तारा के डेरे के आँगन में तुलसी चौसा के पास बहुचर देवी का छोटा, कितु दिव्य मंदिर बना हुआ था। मुर्गे के ऊपर सवार चार भुजाधारी माँ बहुचर देवी एक हाथ में त्रिशूल, दूसरे में तलवार, तीसरे में चूड़ियाँ तो चौथे में धार्मिक ग्रंथ धारण किए हुए थी। गले में पुष्पमाला, सिर पर श्री लिखा मुकुट धारण किए हुए खुले हुए केशों में माँ की मूर्ति सजीव दृष्टिगोचर हो रही थी।"**[1]

इसी तरह **गुलाम मंडी** उपन्यास में भी अंगूरी जब कल्याणी को अपने डेरे पर लेकर जाती है तो घर में बना हुआ बहुचरा माता का छोटा सा मंदिर दिखाती है, अंगूरी बहुचर माता के विषय में कल्याणी को बताती है। **"भीतर एक सिला– सा कमरा था। वहाँ लकड़ी की एक पाटी बनी थी जिसके सामने अगरबत्ती स्टैंड पर चार–पाँच अगरबत्तियाँ जल रही थी। पाटी पर किसी देवी की तस्वीर थी जो मुर्गे पर सवार थी। समीप ही एक कटोरी में कुछ चिरौंजी के दाने रखे थे और तस्वीर पर गुड़हल का एक फूल चढ़ा था। अंगूरी ने जैसे आज्ञा दी, "प्रणाम करो दीदी, यह बुचरा माता है। हमारी कुल देवी।**[2]

गुरु के प्रति निष्ठा

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान अत्यंत उच्च, पवित्र और केन्द्रीय रहा है। गुरु केवल शिक्षक नहीं, बल्कि जीवन का मार्गदर्शक, संस्कारों का संवाहक और आत्मिक उत्थान का प्रेरक माना गया है।किन्नर समुदाय में गुरु का दर्जा सबसे ऊपर होता है।प्रत्येक हिजड़े का संपूर्ण जीवन अपने गुरु के सानिध्य में एवं उसके इर्द–गिर्द घूमता है। किन्नर समाज में गुरु की आवश्यकता को बताते हुए राजकुमार लिखते हैं, **"परिवार और समाज से बहिष्कृत व्यक्ति को थर्ड जेंडर के रूप में मान्यता इस गुरु परंपरा के आधार पर ही प्राप्त होती है। यही नहीं इस परंपरा के आधार पर ही थर्ड जेंडर व्यक्ति हिजड़ा समुदाय से जुड़ता है, साथ ही एक नया परिवार मिलता है। साथ ही जहाँ माता–पिता के रूप में गुरु एवं बाकी अन्य रिश्तो के रूप में वहाँ रहने वाले लोग होते हैं। इस परंपरा में एक–दूसरे के प्रति जहाँ जुड़ाव रहता है, वहीं दूसरी ओर एक–दूसरे के प्रति सम्मान, सदाचार एवं नैतिक मूल्य रूपी नियम होते हैं जो कि कठोर एवं गुरु की आज्ञा द्वारा व्यवस्थित होते हैं।**[3]

किन्नर के लिए गुरु और उसका आदेश ही सर्वोपरि होता है। किन्नर गुरु को माता–पिता और भगवान का दर्जा देते हैं। ऐसी ही एक किन्नर दयाबाई अपने जीवन में अपनी गुरु लक्ष्मीबाई के प्रति प्रेम को प्रदर्शित करते हुए कहती है, **"वह अपने गुरु लक्ष्मीबाई को ही माँ कहकर पुकारती है। लक्ष्मीबाई उसके लिए क्या नहीं है? वे उसके लिए अच्छी गुरु है। एक अच्छी माँ है। माँ होने के साथ–साथ वह खुद उसके लिए बाप भी हैं। इसके साथ ही वह खुद उसके लिए दादा–दादी भी हैं। इसके साथ–साथ नाना–नानी भी हैं। उसका प्रशिक्षक भी है। उन्होंने दयाबाई को नाचना गाना और मंडली के सारे दाँवपेच और राजनीति सिखाई है।**[4]

किन्नर की धार्मिक मान्यताएं–

संसार की विभिन्न जातियों, समुदायों की अपनी कोई न कोई विशिष्ट धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताएं अवश्य होती है। किन्नर समुदाय का अपना अलग धर्म एवं संस्कृति है। किन्नर समुदाय की धर्म से संबंधित मान्यताएं अन्य धर्म की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होती है। जिन्हें यह व्यवहार में भी प्रकट करते हैं। धर्म से संबंधित उनकी मान्यताओं में झूठ न बोलना, पाप न करना, पूर्व जन्म के पाप कृत्यों के कारण किन्नर रूप मिलना, अगले

जन्म में किन्नर रूप ना मिले इस हेतु किसी को दुखी न करना,स्वर्ग प्राप्ति की नरता से छुटकारा आदि प्रमुख हैं।

अरावन देवता की स्मृति में ही तमिलनाडु के विल्लुपुरम जिले के कुवंगम गाँव में प्रति वर्ष अठारह दिन का मेला लगता है। इस मेले में प्रतिदिन अलग–अलग कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। जिसमें संपूर्ण देश के किन्नर शामिल होते हैं। सत्रह दिन सभी किन्नर स्वयं को स्त्री मानकर अरावन से विवाह करते हैं, दुल्हन का वेशधर। अठारहवें दिन अर्थात अंतिम दिन सभी किन्नरों के विधवा बनने की रस्म होती है। जिसमें किन्नर अपना मंगलसूत्र तोड़ विधवा के रूप में विलाप करती हैं। तीसरी ताली उपन्यास में इस मेले एवं उससे जुड़ी सभी मान्यताओं का विस्तार से वर्णन मिलता है।

"कथा के बाद अरावन की मूर्ति को रथ में बिठा कर पूरे गाँव में घुमाया जाता है और फिर उसे अग्नि को समर्पित कर मान लिया जाता है कि उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद सुहागिन बने सब हिजड़े विधवा बन जाते हैं, इस विश्वास के साथ की स्वर्ग में रहकर अरावन पूरे साल उनकी रक्षा करेंगे।[5]

उदारवादी एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण

भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है।उदारवाद व्यक्तित्व नागरिक अधिकारों, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता,लिंग एवं नशीलीय समानता , मानवाधिकारों आदि समर्थन करता है।अभी जहाँ प्रत्येक संप्रदाय का व्यक्ति दूसरे को शंका की नजर से देखता है वहाँ एक मात्र किन्नर समुदाय ही है जो ऐसी विषम वैमनस्य से भरी परिस्थितियों में भी सांप्रदायिक सौहार्द की भावना को बलवती किए है। वर्तमान में किन्नर समाज ही एकमात्र ऐसा समुदाय है जो जातिवाद, क्षेत्रवाद को सिरे से नकारता हुआ आपसी प्रेम एवं एकता पर टिका हुआ है। कोई भी किन्नर चाहे वह किसी भी जाति विशेष से संबंधित हो, चाहे किसी क्षेत्र विशेष से संबंधित हो, वह जब एक बार किन्नर समुदाय में शामिल हो जाता है तो बस उसी समुदाय का ही होकर रह जाता है। बाकी सारी बातें, जात–पात सभी बेमानी हो जाती है।

शरद सिंह किन्नरों के उदारवादी एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण को केंद्र में रखकर स्वयं अपने आलेख में लिखती हैं, **"भारतीय समाज में हिजड़ों की पारंपरिक भूमिका एक बच्चे के जन्म के आसपास विवाह और समारोहों में गायन और नृत्य करना है। वे महिलाओं के रूप में कपड़े पहनते हैं। माना जाता है कि उनके पास नपुंसकता और बांझपन को दूर करने वाली विशेष शक्तियों होती है। जो हिंदू धर्म से आते हैं, वे देवी बहुचरा की पूजा करते हैं, लेकिन जो मुस्लिम पृष्ठभूमि से आते हैं और खुद को मुस्लिम मानते हैं, वह मुस्लिम रीतियों का पालन करते हैं।[6]**

निष्कर्ष

निष्कर्षत: किन्नर समाज धर्म के नाम पर लड़ने वाले विभिन्न धर्मांध लोगों से भी उत्पीड़ित होते हैं। भारत जैसे देश में आज धर्म का राजनीतिकरण हो चुका है। राजनीतिज्ञ अपने तुच्छ राजनीतिक हितों,स्वार्थों के लिए धर्म के नाम पर लोगों को बरगला कर हिंसा उपद्रव एवं अराजकता फैलाने का कार्य करते हैं।किन्नर समाज भारतीय धार्मिक परंपरा का अभिन्न अंग रहा है। धार्मिक ग्रंथों में सम्मान और सामाजिक व्यवहार में उपेक्षाकृ यह विरोधाभास भारतीय समाज की जटिल मानसिकता को दर्शाता है। आवश्यकता है कि धार्मिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या करते हुए किन्नर समाज को समान अधिकार, सम्मान और अवसर प्रदान किए जाएँ। अपने उदारवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए भी धर्म के लोगों को समान रूप से आशीर्वाद देते हैं। बधाई भी सभी धर्म के लोगों के लिए गाते हैं।

संदर्भ सूची–

1) महेंद्र भीष्म: किन्नर कथा, पृष्ठ– 58
2) निर्मला भुराड़िया:गुलाम मंडी,पृष्ठ सं–13
3) राजकुमार : भारतीय समाज में थर्ड जेंडर की अवधारणा एवं वर्गीकरण, थर्ड जेंडर और साहित्य,(फिरोज खान), पृष्ठ सं–24
4) राकेश शंकर भारती : इस जिंदगी के उसे पार (दयाबाई),पृष्ठ संख्या –39
5) प्रदीप सौरभ : तीसरी ताली, पृष्ठ संख्या –190
6) शरद सिंह:थर्ड जेंडर विमर्श और प्रमुख हिंदीयेत्तर कृतियां,(थर्ड जेंडर विमर्श) पृष्ठ संख्या –119

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरणः वर्ष 2015 से अब तक का आगरा जनपद के स्थानीय स्वशासन के विशेष संदर्भ में

हेमन्त
शोधार्थी
शोध केन्द्र–शासकीय एम०एल०बी०उत्कृष्ट महाविद्यालय,ग्वालियर
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर(म०प्र०)।

सारांशः

दलित समुदाय भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक परिदृश्य में ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण और संवेदनशील स्थिति में रहा है।सामाजिक उत्पीड़न,आर्थिक असमानता और राजनीतिक उपेक्षा ने विशेष समुदाय को लंबे समय तक पिछड़ेपन की स्थिति में रखा है। 'वर्तमान में इन जातियों का अनुसूचित जाति के रूप में संविधान सम्मत नामकरण हुआ' तथा संविधान में उल्लेखित प्रावधानों के द्वारा ही राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण के माध्यम से ही दलित समुदाय अपने अधिकारों, सम्मान और समान अवसरों की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकता है। इस दृष्टि से यह अध्ययन आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण की स्थिति का विश्लेषण करता है। जिसमें 2015 से अब तक समयावधि में आयोजित नगर निकाय एवं पंचायत चुनाव के आंकड़ों और अनुभवों को आधार बनाया गया है। प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक होगा। जिसमें द्वितीयक डेटा उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा प्रदान किए गए चुनावी आंकड़ों ,मतदान प्रतिशत, दलित उम्मीदवारों की संख्या,उनकी जीत की दर और राजनीतिक दलों में उनकी प्रतिनिधित्व पर आधारित है।

इस शोध का महत्व न केवल आगरा जिले के संदर्भ में दलित समुदाय की वास्तविक स्थिति को उजागर करना है, बल्कि यह नीति निर्धारकों,सामाजिक संगठनों और शोधकर्ताओं के लिए मार्गदर्शन भी प्रदान करता है ताकि सामाजिक न्याय,समान अवसर और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से दलित समुदाय के सशक्तिकरण की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सके।

मूल शब्द : दलित समुदाय, राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक सशक्तिकरण, मतदान पैटर्न, आगरा जिला, स्थानीय शासन,चुनावी आंकड़े, भारत

परिचयः

'भारत एक बहुसांस्कृतिक, बहुजातीय, बहुभाषीय देश है।' जहां सामाजिक संरचना अनेक जातियों और समुदायों पर आधारित रही है इन समुदायों में दलित समुदाय का विशेष स्थान है ऐतिहासिक रूप से दलित समुदाय जिसे "अछूत"या "अत्यंत पिछड़ा"वर्ग भी कहा जाता है। सामाजिक भेदभाव, उत्पीड़न और आर्थिक एवं राजनीतिक उपेक्षा का सामना करता आया है। वे लंबे समय तक जातिवाद,सामाजिक बहिष्कार और अवसर की कमी के शिकार रहे है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था और संवैधानिक अधिकारों के माध्यम से दलित समुदाय को न्याय, समानता और सम्मान की दिशा में सशक्त बनाने के प्रयास हुए हैं। 'संविधान की अनुच्छेद 15,17 और 46 ने सामाजिक असमानताओं को समाप्त करने और पिछड़े वर्गों के लिए सकारात्मक आरक्षण सुनिश्चित करने का मार्ग प्रशस्त किया'। राजनीतिक भागीदारी दलित समुदाय के सामाजिक सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। राजनीतिक जागरूकता,मतदान में सक्रिय भागीदारी, दलित नेताओं का प्रतिनिधित्व और स्थानीय प्रशासन में सहभागिता समुदाय को केवल सत्ता तक पहुंचे प्रदान

नहीं करती बल्कि यह उनके सामाजिक,आर्थिक और शैक्षिक विकास को भी प्रभावित करती है।राजनीतिक सहभागिता के माध्यम से दलित समुदाय अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है नीति निर्माण में योगदान दे सकता है,और सामाजिक न्याय सुनिश्चित कर सकता है।

आगरा जिला उत्तर प्रदेश राज्य का एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक और सांस्कृतिक केंद्र है। यहां दलित समुदाय का व्यापक आधार है, और यह क्षेत्र सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से विविध अनुभवों से भरा हुआ है पिछले कुछ दशकों में उत्तर प्रदेश में दलितों की राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि देखने को मिली है। जिसके परिणामस्वरूप दलित नेताओं की संख्या में वृद्धि, मतदान प्रतिशत में सुधार और सामाजिक जागरूकता में प्रगति हुई है। लेकिन इसके बावजूद शिक्षा, रोजगार,स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंचे और स्थानीय निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी जैसी चुनौतियां अभी भी विद्यमान हैं।

यह अध्ययन विशेष रूप से '2015 से अब तक की अवधि' में आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण की स्थिति का विश्लेषण करता है। इस अवधि में जो नगर निकाय और पंचायत चुनाव आयोजित हुए, जिनमें आंकड़ों का विश्लेषण दलित समुदाय के राजनीतिक व्यवहार,मतदान पैटर्न,दलित नेताओं की सफलता और सामाजिक जागरूकता को समझने में किया गया है। जिसमें द्वितीयक डाटा के रूप में निर्वाचन आयोग द्वारा उपलब्ध कराए गए चुनावी आंकड़े, राजनीतिक दलों के रिकॉर्ड और अन्य सार्वजनिक दस्तावेजों का अध्ययन किया गया। अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण की वास्तविक स्थिति को उजागर करते हैं।यह न केवल समुदाय की राजनीतिक सक्रियता और प्रतिनिधित्व का मूल्यांकन करता है,बल्कि सामाजिक सुधार,नीति निर्माण और सामाजिक न्याय की दिशा में उठाए जाने वाले कदमों के लिए भी मार्गदर्शन प्रदान करता है।इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण में परस्पर संबंध है और एक दूसरे के पूरक है।

इस शोध का उद्देश्य दलित समुदाय की राजनीतिक सक्रियता,मतदान पैटर्न,दलित नेताओं की उपलब्धियां और सामाजिक सशक्तिकरण की वर्तमान स्थिति का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही अध्ययन उन कारकों को पहचानने का प्रयास करता है, जो राजनीतिक भागीदारी को प्रभावित करते हैं, जैसे शिक्षा,आर्थिक स्थिति,राजनीतिक जागरूकता और सामाजिक संगठन।साथ ही शोध यह भी दर्शाता है कि कैसे राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण के माध्यम से दलित समुदाय अपने अधिकारों, सम्मान और अवसरों को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार,यह शोध न केवल आगरा जिले में दलित समुदाय की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत करता है,बल्कि यह समाज, सरकार और नीति निर्माताओं के लिए एक मार्गदर्शक अध्ययन के रूप में कार्य करता है, जिससे दलितों के सशक्तिकरण और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने में सहायता मिल सके।

2. अध्ययन की पृष्ठभूमि

'दलित समुदाय भारत के लोकतांत्रिक ढांचे में न केवल एक महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई है, बल्कि यह भारतीय लोकतंत्र की संवैधानिक प्रतिबद्धताओं, सामाजिक न्याय और समानता की दिशा में किए गए प्रयासों का एक महत्वपूर्ण सूचक भी है।' ऐतिहासिक रूप से दलित समुदाय सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से हाशिए पर रहा है। जातिगत भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार, शैक्षिक अवसरों की कमी, आर्थिक पिछड़ापन और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की अभाव ने इसे लंबे समय तक कमजोर स्थिति में रखा। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान में दलितों के लिए विशेष आरक्षण और समानता के प्रावधान शामिल किए गए, जैसे

'अनुच्छेद 15 (भेदभाव का निषेध), अनुच्छेद 17 (अछूत प्रथा का उन्मूलन) और अनुच्छेद 46 (पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु राज्य की जिम्मेदारी)।' इन प्रावधानों के बावजूद, दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और प्रतिनिधित्व में समय–समय पर असमानताएँ और सुधार की आवश्यकता रही है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल औपचारिक सत्ता तक पहुँच तक सीमित नहीं है। यह समुदाय के सामाजिक सशक्तिकरण, निर्णय–निर्माण में भागीदारी और समुदाय की समग्र प्रगति के लिए भी महत्वपूर्ण है। राजनीतिक सक्रियता के माध्यम से दलित समाज न केवल अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है, बल्कि सामाजिक समानता, शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सुधार के लिए भी प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है। राजनीतिक भागीदारी में सक्रिय दलित नेताओं और प्रतिनिधियों की संख्या, उनकी सफलता दर, और उनके प्रभाव के स्तर का अध्ययन यह समझने में मदद करता है कि लोकतांत्रिक संस्थाओं में दलित समुदाय किस हद तक समग्र विकास में योगदान दे पा रहा है।

इस शोध का आधार राजनीतिक भागीदारी और मतदाता व्यवहार का व्यापक विश्लेषण है। उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग द्वारा आयोजित नगर निकाय चुनाव (2017,2023) और पंचायत चुनाव (2015, 2021) के डेटा का भी विश्लेषण शामिल किया गया। इस विश्लेषण का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि आगरा जिले में दलित समुदाय का राजनीतिक प्रतिनिधित्व कितना प्रभावी रहा, उनके वोटिंग पैटर्न किस प्रकार रहे, और दलित उम्मीदवार सामान्य सीटों पर कितने सफल रहे। अध्ययन में यह भी देखा गया कि समय के साथ दलित प्रतिनिधित्व में सुधार हुआ है। विशेष रूप से, मतदान प्रतिशत, दलित नेताओं की संख्या, उनके चुनावी परिणाम और राजनीतिक जागरूकता में बदलाव का अध्ययन किया गया। इसके साथ ही यह भी जाँचा गया कि स्थानीय प्रशासन, पंचायत और नगर निकाय में दलित प्रतिनिधियों की सक्रिय भागीदारी समुदाय के सामाजिक सशक्तिकरण पर किस हद तक प्रभाव डाल रही है। सामाजिक सशक्तिकरण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के बीच गहरा संबंध है। राजनीतिक भागीदारी के माध्यम से ही दलित समाज अपने अधिकारों, सम्मान और अवसरों की रक्षा कर सकता है। अध्ययन में यह भी स्पष्ट किया गया कि जब दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी बढ़ती है, तो इसके परिणामस्वरूप शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और स्थानीय निर्णय–निर्माण में उनकी सक्रियता और अधिकारिता में सुधार होता है। इस दृष्टिकोण से, राजनीतिक भागीदारी न केवल लोकतांत्रिक अधिकार का उपयोग है, बल्कि यह सामाजिक और आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन भी है।

इस शोध में चुनावी आंकड़ों का विश्लेषण करके यह भी जाना गया कि दलित उम्मीदवारों का प्रतिनिधित्व कितनी सामान्य सीटों पर सफल रहा, जिससे यह स्पष्ट होता है कि केवल आरक्षित सीटों तक ही उनकी राजनीतिक सक्रियता सीमित नहीं रही। इसके अलावा, यह अध्ययन यह दर्शाता है कि दलितों की राजनीतिक भागीदारी में समय के साथ वृद्धि हुई है, लेकिन उनके सामाजिक सशक्तिकरण की पूर्ण प्रक्रिया अभी भी चुनौतियों और बाधाओं के अधीन है।

3. अध्ययन की प्रासंगिकता

दलित समुदाय भारत के सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य में एक महत्वपूर्ण, परंतु ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहा वर्ग है। समाज के अन्य वर्गों के मुकाबले दलित समुदाय ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से लगातार पिछड़ेपन का सामना किया है। भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता के बाद आरक्षित प्रावधान और समानता के अधिकार प्रदान किए गए, जिससे दलित समाज को न्याय, समान अवसर और प्रतिनिधित्व की दिशा में प्रोत्साहन मिला। इसके बावजूद, वास्तविक जीवन में उनकी राजनीतिक भागीदारी

और सामाजिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया कई चुनौतियों और बाधाओं के अधीन रही है। इस अध्ययन की प्रासंगिकता कई दृष्टियों से है। सबसे पहले, यह अध्ययन दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी को विस्तृत रूप में समझने का प्रयास करता है। लोकतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक भागीदारी केवल मतदान तक सीमित नहीं है; यह प्रतिनिधित्व, निर्णय निर्माण, नीति निर्माण और समुदाय के अधिकारों की रक्षा का माध्यम भी है। इसलिए, यह अध्ययन यह जानने में महत्वपूर्ण योगदान देता है कि आगरा जिले में दलित समुदाय किस हद तक राजनीतिक रूप से सक्रिय है, मतदान में उनकी भागीदारी कैसी रही और उन्होंने कितने अवसरों का उपयोग किया।

इस प्रकार, इस अध्ययन की प्रासंगिकता व्यापक है क्योंकि यह दलित समुदाय की राजनीतिक सक्रियता, सामाजिक सशक्तिकरण और लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है और नीति निर्माण, सामाजिक न्याय और समान अवसरों की दिशा में ठोस मार्गदर्शन प्रदान करता है।

4. अनुसंधान समस्या

दलित समुदाय भारत में सामाजिक, राजनीतिक व ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहा है। जातिगत भेदभाव, सामाजिक बहिष्कार, शिक्षा और रोजगार के अवसरों की कमी ने इसे लंबे समय तक कमजोर स्थिति में रखा है। स्वतंत्रता के बाद संविधान और आरक्षण नीतियों के माध्यम से दलितों को समानता और अधिकार प्रदान किए गए, लेकिन वास्तविक जीवन में उनके सामाजिक सशक्तिकरण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में अब भी कई चुनौतियाँ विद्यमान हैं।

आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और प्रतिनिधित्व की स्थिति स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। प्रश्न उठता है कि क्या दलित समुदाय ने राजनीतिक प्रक्रिया में समान रूप से भाग लिया, उनके प्रतिनिधित्व की दर क्या रही, और क्या दलित उम्मीदवार सामान्य (अनारक्षित) सीटों पर भी सफल हुए। साथ ही, यह भी देखना आवश्यक है कि समय के साथ दलित समुदाय की राजनीतिक जागरूकता, मतदान पैटर्न, दलित नेताओं की संख्या और सामाजिक सक्रियता में कोई सुधार हुआ है या नहीं। अध्ययन की समस्या इस तथ्य से भी उत्पन्न होती है कि दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण के बीच स्पष्ट संबंध का विश्लेषण अपेक्षाकृत कम किया गया है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व केवल औपचारिक सत्ता तक ही सीमित नहीं होता; यह समुदाय की सामाजिक स्थिति, आर्थिक विकास और निर्णय निर्माण प्रक्रिया में उनकी सक्रिय भागीदारी को प्रभावित करता है। आगरा जिले में दलितों की वास्तविक स्थिति, उनके चुनावी प्रदर्शन, सामान्य सीटों पर सफलता, और सामाजिक सशक्तिकरण की दर का व्यापक और वैज्ञानिक विश्लेषण अभी तक पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं है। इसलिए शोधकर्ता के द्वारा आगरा जनपद के स्थानीय स्वशासन में दलितों की राजनीतिक भागीदारी व सामाजिक सशक्तीकरण जानने के उद्देश्य से उक्त शोधपत्र तैयार किया है।

5. शोध के उद्देश्य

मुख्य उद्देश्यः

• आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण की स्थिति का व्यापक विश्लेषण करना।

विशिष्ट उद्देश्य :

1. आगरा जिले में 2015 से अब तक नगर निकाय और पंचायत चुनावों में दलित उम्मीदवारों की संख्या, उनके प्रतिनिधित्व और चुनावी सफलता का विश्लेषण करना।
2. दलितों की राजनीतिक भागीदारी अर्थात दलित उम्मीदवार सामान्य (अनारक्षित) सीटों पर चुनाव परिणामों का विश्लेषण करना।
3. समय के साथ दलित समुदाय की राजनीतिक जागरूकता, मतदान प्रतिशत और मतदान व्यवहार में आए परिवर्तनों का अध्ययन करना।
4. स्थानीय प्रशासन, पंचायत और नगर निकाय में दलित प्रतिनिधियों की सक्रिय भागीदारी और उसके सामाजिक सशक्तिकरण पर प्रभाव का मूल्यांकन करना।
5. राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण के बीच संबंध और अंतर्संबंधों को स्पष्ट करना।
6. यह निर्धारित करना कि दलितों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक सशक्तिकरण बढ़ने के साथ उनके समाज में अधिकारिता और अवसरों में क्या सुधार हुआ है।
7. शोध के निष्कर्षों के आधार पर नीति निर्धारकों और सामाजिक संगठनों के लिए सुझाव और मार्गदर्शन प्रदान करना।

शोध पद्धति

1 शोध रूपरेखा

यह अध्ययन वर्णनात्मकता पर आधारित है। इसका उद्देश्य आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण की वास्तविक स्थिति को समझना है। जिसमें शोधकर्ता के द्वारा संकलित डाटा का विश्लेषण किया गया है। जिसमें प्रमुख रूप से आगरा जनपद की दलित राजनीति का स्थानीय स्वशासन का विश्लेषण समाहित है। 'आगरा जनपद उत्तर प्रदेश का दलित राजनीति की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण जनपद है।'दलित सशक्तिकरण की दृष्टि से भी यह प्रदेश में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।शोधार्थी के द्वारा दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी व सामाजिक सशक्तिकरण के लिए स्थानीय स्वशासन को केंद्र में रखकर अध्ययन व विश्लेषण किया गया है।जिसका विवरण क्रमशः से ग्रामीण व शहरी निकायों के सापेक्ष निम्नवत है।

आगरा जनपद के ग्राम पंचायत के प्रमुखों (ग्राम प्रधान) के पदों में अनुसूचित जातियों की भागीदारी वर्ष–2015 से अब तक

वर्ष	कुल सीट	अनारक्षित सीट	सामान्य विजित सीट	पिछड़ा वर्ग सीट	अनुसूचित विजित सीट	अनुसूचित आरक्षित सीट
2015	696	356	264	87	05	155
2021	690	350	170	155	25	151
योग	1386	706	434	242	30	306

स्रोतः उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग के आंकड़े

शोधकर्ता के द्वारा अनुसूचित जातियों की भागीदारी का विश्लेषण जब उक्त तालिका के आधार पर किया गया तो पाया गया कि वर्ष 2015 व 2021 के स्थानीय स्वशासन के आम चुनाव में आगरा जनपद के ग्राम प्रधानों के लिए कुल सीट क्रमशः 696 व 690 थी।जिसमें अनुसूचित जाति के लिए क्रमशः से 155 व

151 सीट आरक्षित थी। इन सीटों पर अनुसूचित जाति के प्रत्याशियों की निर्णायक विजय हुई। वर्ष 2015 के कुल अनारक्षित सीटों का विश्लेषण करें तो पाते हैं की अनारक्षित कुल 356 सीटों पर सामान्य वर्ग द्वारा 264 सीटें व पिछड़े वर्गों के द्वारा 87 सीटें जीती गई।वहीं अनुसूचित जाति के प्रत्याशियों द्वारा मात्र 5 सीटें जीती गई अर्थात आरक्षित श्रेणी को छोड़कर अनारक्षित सीटों पर उनकी भागीदारी नाममात्र की रही।इसी क्रम में 2021 के चुनाव का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि वर्ष 2021 में अनारक्षित सीटों की संख्या 350 थी, जिसमें सामान्य वर्ग द्वारा 170 सीटें व पिछड़े वर्ग द्वारा 155 व अनुसूचित जाति के द्वारा 25 सीटें जीती गई।पूर्व चुनाव की तुलना में सीट जीतने की संख्या व दर में तो वृद्धि देखी गई किंतु पिछड़े वर्ग की तुलना में अपेक्षाकृत कम रही।

आगरा जनपद के क्षेत्र पंचायत प्रमुख (ब्लॉक प्रमुख) के पदों पर अनुसूचित जाति की भागीदारी वर्ष 2015 से अब तक

वर्ष	कुल सीट	अनारक्षित सीट	सामान्य विजित सीट	पिछड़ा वर्ग सीट	अनुसूचित विजित सीट	अनुसूचित आरक्षित सीट
2015	15	08	05	03	00	03
2021	15	08	07	01	00	03
योग	30	16	12	04	00	06

स्रोतः उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग के आंकड़े

शोधकर्ता के द्वारा वर्ष 2015 व 2021 की क्षेत्र पंचायत प्रमुख (ब्लॉक प्रमुख) के पदों पर अनुसूचित जाति की भागीदारी के क्रम में विश्लेषण करें तो पाते हैं कि आगरा जनपद में कुल ब्लॉकों की संख्या 15 है। वर्ष 2015 व 2021 में अनुसूचित जाति के लिए क्रमशः 3 व 3 सीटें आरक्षित थी। जिन सीटों पर इन जाति के प्रत्याशियों की निर्णायक विजय हुई किंतु अनारक्षित सीट पर वर्ष 2015 व 2021 में कोई भी सीट अनुसूचित जाति के उम्मीदवार विजयी नहीं हो सके। जबकि पिछड़े वर्ग के क्रमशः 3 व 1उम्मीदवार विजयी रहे।यहां सामान्य वर्ग का अनारक्षित सीट पर प्रभावी प्रतिनिधित्व रहा।

आगरा जनपद के जिला पंचायत सदस्य एवं जिला पंचायत प्रमुख के पदों पर अनुसूचित जाति की भागीदारी वर्ष 2015 से अब तक

वर्ष	कुल सीट	अनारक्षित सीट	सामान्य विजित सीट	पिछड़ा वर्ग सीट	अनुसूचित विजित सीट	अनुसूचित आरक्षित सीट	जिला पंचायत प्रमुख की स्थिति
2015	51	26	17	05	04	11	ओ०बी०सी०
2021	51	27	17	09	01	11	महिला
योग	102	53	34	14	05	22	

स्रोतः उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग के आंकडे

शोधकर्ता के द्वारा जिला पंचायत सदस्यों व प्रमुख का अध्ययन अनुसूचित जाति को केंद्र में रखकर किया गया तो पाया गया कि वर्ष 2015 व 2021 में जिला पंचायत सदस्य की कुल सीट 51 व 51 थी। जिसमें अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित सीट 11 व 11 थी। अनारक्षित सीट क्रमशः 26 व 27 थी, जिसमें वर्ष 2015 में अनारक्षित सीटों में से 4 सीटें अनुसूचित जाति व 5 सीटें पिछड़े वर्ग द्वारा जीती गई। वहीं 2021 के निर्वाचन में 27 अनारक्षित सीटों में अनुसूचित जाति 1 सीट और पिछड़े वर्ग द्वारा 9 सीटें जीती गई अर्थात अनुसूचित जाति की अनारक्षित सीट पर जीतने की दर में गिरावट दर्ज हुई।जिला पंचायत अध्यक्ष का पद वर्ष 2015 व 2021 में अनारक्षित थे। जिस पर कोई भी अनुसूचित जाति के उम्मीदवार विजयी नहीं हो सके।

आगरा जनपद के नगर निकाय के प्रमुख पदों पर अनुसूचित जाति की भागीदारी (वर्ष 2015 से अब तक)

वर्ष	विकास का नाम	कुल सीटें	आरक्षण की स्थिति	विजेता की श्रेणी
2017	(1) नगर निगम	01	सामान्य वर्ग – 1	सामान्य वर्ग– नवीन कुमार जैन
	(2) नगर पालिका	05	सामान्य वर्ग– 4 पिछड़ा वर्ग – 01 अनु० जाति– 00	सामान्य वर्ग– 03 पिछड़ा वर्ग – 02 अनु० जाति– 00
	(3) नगर पंचायत	07	सामान्य वर्ग – 06 पिछड़ा वर्ग – 00 अनु० जाति– 01	सामान्य वर्ग – 05 पिछड़ा वर्ग – 01 अनु० जाति– 01
2023	(1) नगर निगम	01	अनु० जाति महिला – 01	अनु०जाति महिला– हेमलता दिवाकर
	(2) नगर पालिका	05	सामान्य वर्ग– 01 पिछड़ा वर्ग – 03 अनु० जाति– 01	सामान्य वर्ग– 0 पिछड़ा वर्ग – 04 अनु० जाति– 01
	(3) नगर पंचायत	07	सामान्य वर्ग – 05 पिछड़ा वर्ग – 01 अनु० जाति– 01	सामान्य वर्ग – 05 पिछड़ा वर्ग – 01 अनु० जाति– 01

स्रोतः उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग के आंकडे

शोधकर्ता के द्वारा 74वें संविधान संशोधन के द्वारा स्थापित शहरी स्थानीय निकाय का अध्ययन व विश्लेषण अनुसूचित जाति के संदर्भ में किया गया तो पाया गया कि वर्ष 2017 में नगर निकाय में नगर निगम के प्रमुख का पद अनारक्षित था। जिसमें सामान्य वर्ग के उम्मीदवार विजयी हुए। वहीं वर्ष 2023 में अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित था, जिस पर अनुसूचित जाति के उम्मीदवार विजयी हुए। वहीं वर्ष 2017 व 2023 में नगर पालिका के प्रमुख के क्रमशः 5 व 5 पद थे जिसमें 2017 में अनुसूचित के लिए कोई पद आरक्षित नहीं थाऔर ना ही इन जातियों का कोई उम्मीदवार 2017 में विजयी हो सका। वर्ष 2023 में नगर पालिका के प्रमुख के 5 पदों में 1पद अनारक्षित,3 पद पिछड़ा वर्ग,1पद अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित था। इस वर्ष के निर्वाचन के अंतिम निष्कर्ष में पाया गया कि पिछड़े वर्ग के द्वारा अपनी आरक्षित पदों के अतिरिक्त अनारक्षित

1 पद जीतकर कुल चार पदों पर जीत दर्ज की जबकि अनुसूचित जाति अपनी एक आरक्षित सीट पर ही जीत सकी।

उपरोक्त क्रम में जब नगर पंचायत के प्रमुखों के पदों का पदों का अनुसूचित जाति के संदर्भ में अध्ययन किया गया तो पाया गया। वर्ष 2017 में कुल सात पदों में अनारक्षित 6 पद, 1 पद अनुसूचित जाति हेतु आरक्षित था इसमें सामान्य वर्ग 5, पिछड़ा वर्ग 1,अनुसूचित जाति मात्र अपनी 1 आरक्षित सीट जीत सकी। वहीं वर्ष 2023 में कुल 7 पदों में आरक्षण की स्थिति, 5 अनारक्षित, 1 पद पिछड़ा वर्ग,1 पद अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित था। जिसका परिणाम यह रहा कि सभी 5 अनारक्षित पदों पर सामान्य वर्ग,1पद पिछड़ा वर्ग व 1 पद अनुसूचित जाति द्वारा जीता गया, जो कि उनके लिए आरक्षित था।

निष्कर्ष

आगरा जिले में दलित समुदाय की राजनीतिक भागीदारी और सामाजिक सशक्तिकरण पर किए गए अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष स्पष्ट हुए हैं:

1. दलित समुदाय की राजनीतिक जागरूकता और मतदान में भागीदारी में पिछले वर्षों में निरंतर वृद्धि हुई है। नगर निकाय और पंचायत चुनावों में दलितों की सक्रिय भागीदारी यह दर्शाती है कि समुदाय राजनीतिक प्रक्रिया में अधिक संलग्न हो रहा है।
2. दलित प्रतिनिधित्व में सुधार देखा गया है। पंचायत और नगर निकाय चुनावों में दलितों की संख्या और सामान्य सीटों पर जीत में वृद्धि हुई है, जिससे स्थानीय स्तर पर उनकी सशक्तिकरण प्रक्रिया मजबूत हुई है।
3. स्थानीय स्वशासन के सन्दर्भ में वर्ष 2015 से अब तक प्राप्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि सामान्य सीटों पर जीत की दर अभी भी सीमित है, विशेषकर ब्लाक प्रमुख, जिला पंचायत अध्यक्ष, नगर निगम, नगर पालिका व नगर पंचायत के प्रमुख के चुनाव में इसका कारण सामाजिक पूर्वाग्रह, राजनीतिक संरचनात्मक बाधाएँ और दलित उम्मीदवारों के लिए संसाधनों की कमी हो सकती है।
4. दलित महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में धीरे–धीरे सुधार हुआ है। महिला प्रतिनिधित्व में वृद्धि समाज में लैंगिक समावेशन की ओर सकारात्मक संकेत देती है।
5. कुल मिलाकर, आगरा जिले के दलित समुदाय का राजनीतिक और सामाजिक सशक्तिकरण दृष्टिगोचर रूप से बढ़ रहा है, लेकिन पूर्ण समावेशन और प्रभावी प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए अभी और प्रयास आवश्यक हैं।

सुझाव

उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं:

1.दलित समुदाय के लिए राजनीतिक जागरूकता कार्यक्रम और प्रशिक्षण कार्यशालाएँ आयोजित की जाएँ, ताकि मतदान और प्रतिनिधित्व की महत्ता को अधिक प्रभावी ढंग से समझाया जा सके।
2. दलित उम्मीदवारों को चुनावी प्रक्रिया में संसाधनों और मार्गदर्शन की सुविधा उपलब्ध कराई जाए, जिससे वे सामान्य सीटों पर सफल होने की क्षमता विकसित कर सकें।
3. महिला, दलितों की भागीदारी को बढ़ाने के लिए विशेष योजनाएँ और प्रोत्साहन लागू किए जाएँ, ताकि राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया में लैंगिक समानता सुनिश्चित हो सके।
4.दलित समुदाय के सामाजिक और राजनीतिक सशक्तिकरण के लिए स्थानीय नेतृत्व को प्रोत्साहित किया जाए और पंचायत, नगर निकाय तथा विधानसभा स्तर पर उनकी भागीदारी बढ़ाने के उपाय किए जाएँ।

5. भविष्य के शोध में स्थानीय और क्षेत्रीय कारकों का गहन विश्लेषण किया जाना चाहिए, ताकि दलित राजनीतिक सहभागिता और सामाजिक सशक्तिकरण के लिए प्रभावी रणनीतियाँ विकसित की जा सकें।
6. चुनाव आयोग और सामाजिक संगठनों को मिलकर दलित प्रतिनिधित्व की निगरानी और सुधार के लिए नियमित रिपोर्ट और आंकड़े उपलब्ध कराना चाहिए, ताकि समग्र स्थिति का वास्तविक और सटीक मूल्यांकन किया जा सके।

सन्दर्भ

1. थोराट, सुखदेव,'भारत में दलितः एक समान नियति की तलाश', सेज पब्लिकेशन्स इंडिया, नई दिल्ली,
2. घूर्ये, जी०एस०,'भारत में जाति एवं प्रजाति' सेज पब्लिकेशन्स इंडिया, नई दिल्ली, 2017
3. बसु, दुर्गादास,'भारत का संविधानः एक परिचय' लेक्सिस नेक्सिस पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2015
4. कोठारी, रजनी,'भारत में राजनीति' ओरिएंटल ब्लैकस्वान प्राईवेट लिमिडेट, हैदराबाद, 2016
5. क्षेत्रपाल,बी०एस० और क्षेत्रपाल, पूजा,'भारत का संविधान' पूजा लॉ हाउस, इन्दौर, 2018
6- एन०डी०टी०वी० समाचार वेबसाइट– https://ndtv.in/india/agra-is-capital-of-dalits-bahujan-samaj-party-has-not-yet-won-lok-sabha-elections-on-this-seat-5520122 25.04.2024
7. उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग–त्रिस्तरीय पंचायत निर्वाचन परिणाम 2015–21, यह सन्दर्भ https://sec.up.nic.in/site/electionresult.aspx 21.02.2024 को देखा गया
8. उपरोक्त
9. उपरोक्त
10. उत्तर प्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग–त्रिस्तरीय नगर निकाय निर्वाचन परिणाम 2017–23, यह सन्दर्भ https://sec.up.nic.in/site/electionresult.aspx 23.02.2024 को देखा गया

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

वाराणसी जिले के शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं के समायोजन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

अम्रेश मौर्य
का. सु. साकेत पी.जी. कॉलेज फ़ैजाबाद,
मनोविज्ञान विभाग
डॉ संदीप कुमार वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर मनोविज्ञान विभाग
का. सु. साकेत पी.जी. कॉलेज फ़ैजाबाद,
डॉ. अजय कुमार कुशवाहा
सहायक प्राध्यापक– मनोविज्ञान विभाग
महाराज बलवंत सिंह पीव जीव कॉलेज, गंगापुर, वाराणसी

सारांश

प्रस्तुत शोध के अंतर्गत शोधकर्ता ने वाराणसी जिले से चयनित शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय में अध्यनरत छात्रों के समायोजन के स्तर का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया । इस अध्ययन के लिए संबंधित महाविद्यालय से कुल 100 छात्रों का चयन लॉटरी विधि से किया गया। जिनमें (50) छात्र एवं (50)छात्राएं शामिल थीं।

शोधकर्ता ने विद्यार्थियों का समायोजन स्तर ज्ञात करने के लिए डॉव रामजी श्रीवास्तव एवं बीना श्रीवास्तव के द्वारा निर्मित समायोजन प्रश्नावली का उपयोग किया गया है। शोध की प्रक्रिया में विभिन्न सांख्यिकी विश्लेषण के लिए प्राचल एवं अप्राचल सांख्यिकीय विधि जैसे– मध्यमान, मानक विचलन, क्रान्तिक अनुपात का प्रयोग कर परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया एवं निष्कर्ष में पाया गया कि शासकीय महाविद्यालय के छात्रों का समायोजन स्तर अशासकीय महाविद्यालय के छात्रों की तुलना में अधिक है ।

शब्द कुंजी : (शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय, संयोजन के आयाम),

प्रस्तावना:

मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है जो अपने जीवन में पारिवारिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, भावनात्मक परिस्थिति के साथ अनुकूलित होने का प्रयास करता है। व्यक्ति के द्वारा इसी अनुकूलित होने की प्रक्रिया को समायोजन कहा जाता है। व्यक्ति का जीवन विकासात्मक क्रम में विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। सभी अवस्थाओं में सुनहरा अवस्था जीवन की बेहद महत्वपूर्ण अवस्था होती है, जिसे किशोरावस्था कहते हैं । इस अवस्था को जीवन का स्वर्णिम काल कहा जाता है। इसी अवस्था में होने वाले शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, मनोशारीरिक बदलाव के साथ सामाजिक परिवर्तन छात्रों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के साथ किशोर को समायोजन स्थापित करना होता है। जब विकसित हो रहे किशोर को इसी अवस्था में छात्र कॉलेज के जीवन में प्रवेश करता है। तब कॉलेज का जीवन उनके भावनात्मक एवं व्यक्तिगत समायोजन को विशेष रूप से प्रभावित करता है, इस अवस्था में आत्म पहचान की खोज करना, निर्भरता से दूर स्वतंत्रता की भावना का जागृत होना एवं सावैंगिक प्राकृत की दहलीज पर खरा उतरना होता किशोर को समायोजन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताएं मानी जाती हैं। इस अवस्था में होने वाले संवेगात्मक पक्ष एवं संज्ञानात्मक पक्ष में हो रहे बदलावों का प्रत्यक्षण होना स्वयं को , संभालने एवं समझने का अवसर

मिलता है। इन पक्षों में किसी प्रकार से समस्या होने पर छात्रों को समायोजन करने में अधिक कठिनाई होती है। समायोजन के विभिन्न आयामों में कॉलेज समायोजन छात्रों को अपने सहपाठियों, शिक्षकों एवं संस्था के नियमों के साथ समायोजन स्थापित करने में सहायता देते हैं। भावनात्मक समायोजन जीवन की जटिल परिस्थितियों के साथ स्थिरता पूर्वक सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होते हैं। व्यक्तिगत समायोजन छात्रों के व्यक्तिगत क्षेत्र से संबंधित रुचि आत्मविश्वास एवं समझ को प्रदर्शित करते हैं।

संबंधित पूर्व शोध साहित्य :–

चंद्रशेखर, (2023) के अध्ययन का उद्देश्य चयनित हिंदी माध्यम के ग्रामीण वह शहरी छात्रों के समायोजन का तुलनात्मक रूप से अध्ययन करना है। शोधकार्य में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया और साथ ही संभावित प्रतिदर्श विधि के द्वारा प्रतिदर्श का चयन किया गया। अध्ययन के निष्कर्ष में पाया गया कि ग्रामीण छात्रों की समायोजन क्षमता शहरी छात्रों की तुलना में अधिक है।

कुमारी मीना (2024) ने अपने अध्ययन कार्य में चयनित माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में समायोजन और शैक्षिक प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। शोधकर्ता ने इस अध्ययन के लिए 180 विद्यार्थियों का चयन उद्देश्यात्मक चयन पद्धति के द्वारा किया गया। परिणाम से ज्ञात होता है कि विद्यार्थियों के समायोजन स्तर और शैक्षिक प्रेरणा में सार्थक अंतर है।

राठौर आकांक्षा, वर्षा, डॉ श्रीमती (2024) ने शोधकार्य में चयनित उच्च माध्यमिक स्तर में छात्रों के समायोजन स्तर पर अध्ययन किया । शोधकार्य में यादृच्छिक विधि के द्वारा 100 विद्यार्थियों का प्रतिदर्श लिया जिसमें 50 छात्र 50 छात्राएं शामिल हुए। निष्कर्ष में पाया गया कि उच्च स्तर की छात्राओं का गृह समायोजन छात्रों से अधिक था।

सिंह, दिव्या (2025) ने अपने अध्ययन का उद्देश्य माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना है। शोधार्थी ने आकस्मिक चयन विधि के माध्यम से विद्यालयों का चयन किया, साथ ही साथ यादृच्छिक विधि के द्वारा विद्यार्थियों का चयन कर लिया गया। परिणाम में पाया गया कि दोनों समूह के समायोजन में महत्वपूर्ण सार्थक अंतर नहीं है।

देवी, प्रियंका (2025) ने अपने शोध कार्य का उद्देश्य शैक्षणिक समायोजन को आधुनीकरण के कारक किस प्रकार से प्रभावित करते हैं, पर अध्ययन करना था । शोध के लिए 240 प्रयोज्य को प्रतिदर्श के रूप में चयन किया गया। प्रयुक्त शोध की निष्कर्ष से ज्ञात होता है कि आधुनिकरण के प्रति उनके शैक्षणिक समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया है।

अध्ययन की आवश्यकता:

वर्तमान छात्रों का जीवन अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, अधिक पारिवारिक एवं सामाजिक उपेक्षाओं के साथ तकनीक प्रभाव में व्यतीत हो रहा है। विद्यालय से कॉलेज के वातावरण में परिवर्तित होने पर छात्रों को अलग–अलग प्रकार से समायोजन की आवश्यकता होती है। उनमें समायोजन संबंधित भावनात्मक स्थिरता, पहचान संकट एवं अपने भविष्य से संबंधित चिंताएं देखी जाती हैं। यदि वह इन स्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं बना पाते हैं, तो वह विभिन्न प्रकार के मानसिक तनाव और असफलता का सामना करना पड़ता है।

अतः कॉलेज जीवन के प्रारंभिक चरणों में इस प्रकार की परिस्थितियों के साथ समायोजन करना बेहद महत्वपूर्ण है। जिससे कि वह अपने संपूर्ण व्यक्तित्व विकास का मार्ग प्रशस्त कर सके।

वर्तमान परिवेश को देखते हुए शोधकर्ता के द्वारा चयनित विषय पर शोध कार्य की आवश्यकता है, क्योंकि अत्यधिक छात्र ऐसे भी होते है, कॉलेज में होने वाले परीक्षा परिणाम में अच्छा प्रदर्शन करते हैं, लेकिन जीवन के अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र के साथ बेहतर समायोजन स्थापित नहीं कर पाते हैं।

पूर्ववर्ती शोध कार्य के अनुसार समायोजन की अन्य आयामों जैसे– गृह, स्वास्थ्य और सामाजिक समायोजन पर अधिक शोध कार्य हुए हैं, लेकिन छात्रों के कॉलेज, भावनात्मक और व्यक्तिगत समायोजन पर शोधकार्य सीमित मात्रा में और संकुचित रूप से किया गया है, तथा शोधकर्ता के द्वारा किए गए अध्ययन से छात्रों के समायोजन से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण आयामों को समझने में सहायता मिलेगी ।

इस अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिताएं भी है–

यह अध्ययन शिक्षकों को छात्रों के विद्यालय समायोजन एवं मानसिक स्वास्थ्य की दिशा में मार्गदर्शन करने में सहायक होगा एवं सरकार के अंग में शामिल नीति निर्माताओं को छात्रों के लिए कल्याणकारी योजनाएं बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

समस्या कथन :–

शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं के समायोजन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।

अध्ययन का उद्देश्यः

1. शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्यनरत छात्रो के समायोजन का अध्ययन करना।
2. शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय में अध्यनरत छात्रों के भावनात्मक समायोजन का अध्ययन करना।
3. शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय में अध्यनरत छात्रों के व्यक्तिगत समायोजन का अध्ययन करना।
4. शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय में अध्यनरत छात्रों के महाविद्यालयी समायोजन का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएं :–

उपर्युक्त उद्देश्यों के आधार पर शून्य परिकल्पना का परीक्षण किया गया है दृ

H01 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों मे अध्ययनरत छात्रों के कॉलेज समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

H02 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के भावनात्मक समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

H03 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तिगत समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

प्रतिदर्श :–

वाराणसी जिले से शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय के स्नातक स्तर के 100 विद्यार्थियों जिसमें 50 छात्र एवं 50 छात्राओं का चयन यादृच्छिक प्रदर्शन विधि के द्वारा किया गया।

प्रयुक्त उपकरणः–

प्रस्तुत शोध प्रक्रिया के अंतर्गत शोधकर्ता ने अपने शोध अध्ययन में समायोजन के मापन के लिए डॉ. रामजी एवं बीना श्रीवास्तव द्वारा निर्मित समायोजन प्रश्नावली का प्रयोग किया।

इस प्रक्रिया में शोधकर्ता द्वारा उत्तरदाताओं से समायोजन के विभिन्न आयामों भावनात्मक, व्यक्तिगत एवं कॉलेज समायोजन से संबंधित प्राथमिक आंकड़ों का संकलन किया गया उसके पश्चात शोध अध्ययन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आंकड़ों का विश्लेषण कर निष्कर्ष प्राप्त किया गया।

प्रयुक्त सांख्यिकी :–

प्रस्तुत शोध लेख के अंतर्गत शोधकर्ता द्वारा अध्ययन में शामिल किए गए उत्तरदाता के भावात्मक, व्यक्तिगत एवं कॉलेज समायोजन की प्रकृति को ज्ञात करने के लिए प्राचल एवं अप्राचल सांख्यिकीय विधि जैसे–मध्यमान, मानक विचलन, क्रान्तिक अनुपात का प्रयोग किया और निष्कर्ष ज्ञात गया है।

प्रस्तुत परिकल्पनाओं की व्याख्या व विश्लेषण

सारणी संख्या 1

H01 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के कॉलेज समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

चर कॉलेज समायोजन	संख्या N	माध्य M	प्रामाणिक विचलन SD	मध्यमान त्रुटि SEM	मानक त्रुटि SED	T परीक्षण	सर्तकता स्तर 0.05 Significant
शासकीय	50	16.28	2.11	0.30	0.479	2.50	सार्थक अंतर हैं।
अशासकीय	50	15.08	2.65	0.39			

S**98Df सार्थकता 0.05 के स्तर पर' 1.97

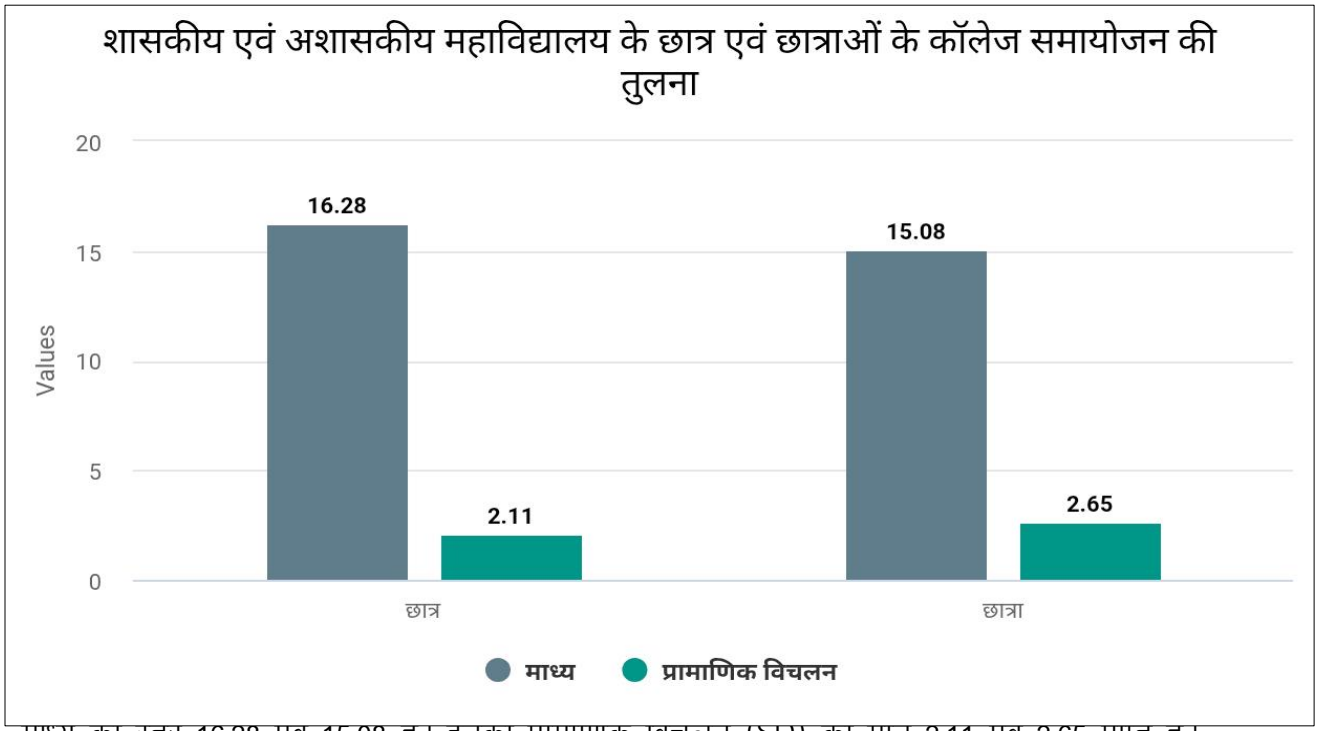

माध्य का स्तर 16.28 एवं 15.08 है। इनका प्रामाणिक विचलन (SD) का मान 2.11 एवं 2.65 प्राप्त है।

प्राप्त माध्य अंकों का विश्लेषण करने पर टी मूल्य 2.50 प्राप्त हुआ, अतः स्पष्ट है कि प्राप्त टी मूल्य सारणी के प्रदर्शित मान 198 स्वतंत्रता अंश के मान से अधिक है, जिसके परिणाम स्वरुप ज्ञात होता है कि शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय के छात्र एवं छात्राओं के कॉलेज समायोजन में सार्थक अंतर पाया गया है। अतः H01 परिकल्पना अस्वीकृति किया जाता हैं। अर्थात दोनों समूहो के विद्यार्थियों के समायोजन में भिन्नता है ।

H02 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के भावनात्मक समायोजन में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

चर कॉलेज समायोजन	संख्या N	माध्य M	प्रामाणिक विचलन SD	मध्यमान त्रुटि SEM	मानक त्रुटि SED	T परीक्षण	सर्तकता स्तर 0.05 Significant
शासकीय	50	13.42	2.11	0.328	0.430	5.43	सार्थक अंतर हैं।
अशासकीय	50	11.08	2.65	0.27			

S**98Df सार्थकता 0.05 के स्तर पर' 1.97

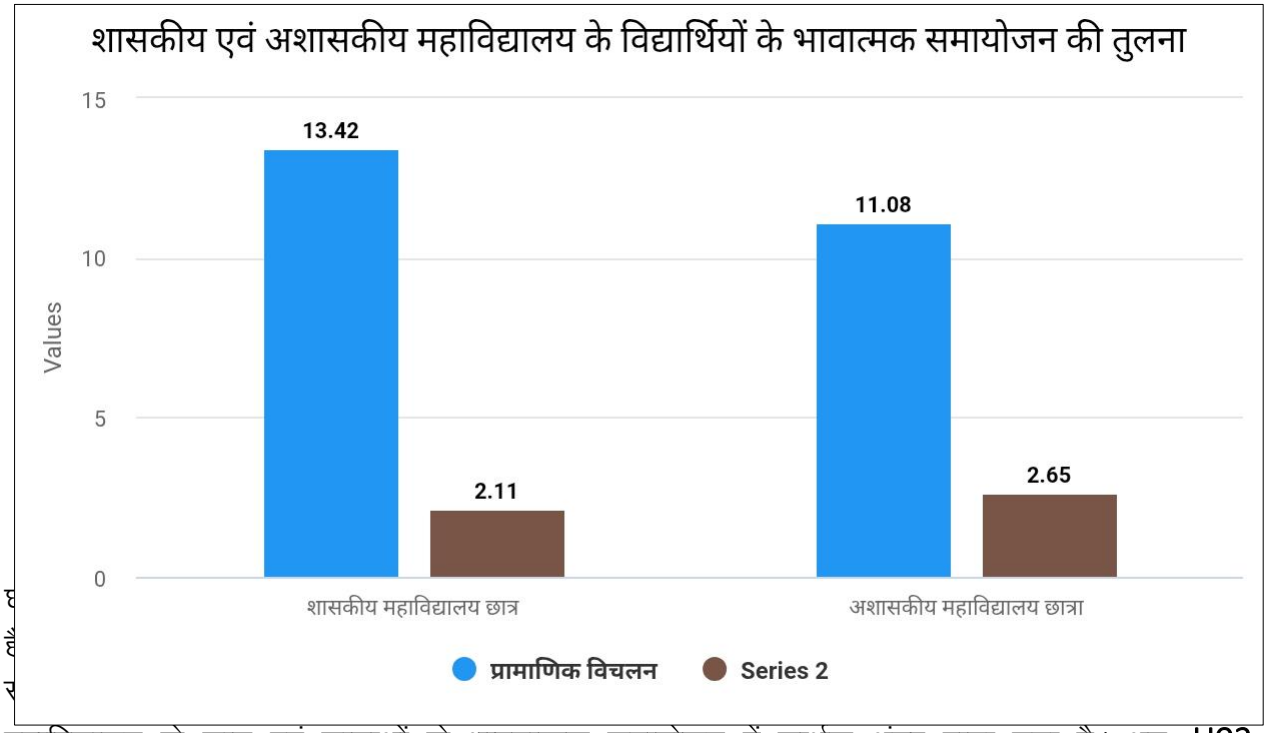

महाविद्यालय के छात्र एवं छात्राओं के भावनात्मक समायोजन में सार्थक अंतर पाया गया है। अतः H02 परिकल्पना अस्वीकृति की जाती है।

H03 शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालयों मे अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तिगत समायोजन के आयाम में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

चर कॉलेज समायोजन	संख्या N	माध्य M	प्रामाणिक विचलन SD	मध्यमान त्रुटि SEM	मानक त्रुटि SED	T परीक्षण	सर्तकता स्तर 0.05 Significant
शासकीय	50	16.28	2.71	0.38	0.48	5.28	सार्थक अंतर हैं।
अशासकीय	50	13.72	2.09	0.29			

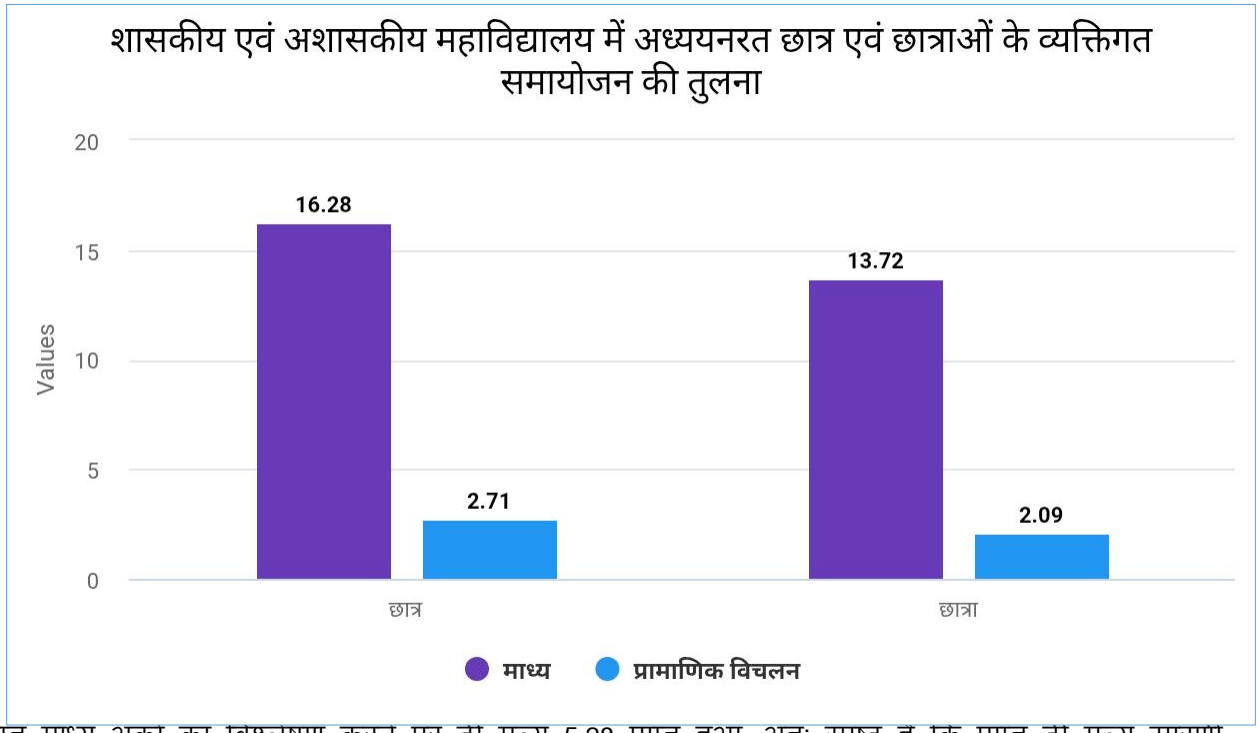

के

प्राप्त माध्य अंको का विश्लेषण करने पर टी मूल्य 5.28 प्राप्त हुआ, अतः स्पष्ट है कि प्राप्त टी मूल्य सारणी के प्रदर्शित मान से अधिक है, जिसके परिणामस्वरूप ज्ञात होता है कि शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय के छात्र एवं छात्राओं के व्यक्तिगत समायोजन में सार्थक अंतर पाया गया है। अतः भ03 परिकल्पना अस्वीकृति की जाती है।

शोध निष्कर्षः–

प्रस्तुत शोध लेख के अंतर्गत शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय में अध्ययनरत विद्यार्थियों के समायोजन के विभिन्न आयामों के प्राप्तांको की तुलना करने में पाया गया कि विद्यार्थियों के विद्यालय समायोजन, भावात्मक एवं व्यक्तिगत समायोजन में सार्थक अंतर पाया गया । जिससे यह ज्ञात होता है कि दोनों समूहों के समयोजन में अंतर पाया गया , यह अंतर का पाया जन महाविद्यालय की संरचना एवं उनके व्यक्तिगत समायोजन की मनोवैज्ञानिक शैली को दर्शाता है।

प्राप्त परिणामों को महत्वपूर्ण बिंदु द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है दृ

1- शोध परिणामों से ज्ञात होता है कि शासकीय एवं
अशासकीय महाविद्यालय छात्रों के कॉलेज समायोजन स्तर में सार्थक अंतर पाया गया है, यह दर्शाता है कि शासकीय महाविद्यालय के छात्रों का कॉलेज समायोजन अशासकीय महाविद्यालय के छात्रों से अधिक है।

2- शोध परिणामों से ज्ञात होता है कि शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय छात्रों के भावनात्मक समायोजन स्तर में सार्थक अंतर पाया गया है, यह दर्शाता है कि शासकीय महाविद्यालय के छात्रों का भावनात्मक समायोजन अशासकीय महाविद्यालय के छात्रों से अधिक है।

3.शोध परिणामों से ज्ञात होता है कि शासकीय एवं अशासकीय महाविद्यालय छात्रों के व्यक्तिगत समायोजन स्तर में सार्थक अंतर पाया गया है, यह दर्शाता है कि शासकीय महाविद्यालय के छात्रों का व्यक्तिगत समायोजन अशासकीय महाविद्यालय के छात्रों से अधिक है।

शोध की सीमाः–

1: प्रस्तुत शोध लेख वाराणसी जिले के स्नातक के विद्यार्थियों तक ही सीमित रखा गया है ।

2: शोध लेख के अंतर्गत विद्यार्थियों का चयन याद्रीक्षिक विधि से किया गया । जिसमें नई शिक्षा नीति में पंजीकृत विद्यार्थियों तक सीमित है ।

3: शोध लेख वाराणसी के महाविद्यालयों के वातावरण से संबंध रखता है जो विद्यार्थियों के एवं अध्यापकों के सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार तक सीमित है।

सुझावः–

1 किशोर छात्र एवं छात्राओं के किसी भी राष्ट्र के विकास में सहायक माना जाता है, यदि विद्यार्थियो का समायोजन स्तर उच्च हो तो उनका शिक्षण कार्य एवं निष्पति स्तर भी उत्तम हो सकता है।

2 विद्यार्थियों के जीवन में विकासात्मक प्रकृति उनके भावात्मक एवं व्यक्तिगत समायोजन को अधिक प्रभावित करती है, अर्थात शोधकर्ता का मानना है कि ऐसे में किशोर का भावात्मक समायोजन अच्छा होने पर उनका जीवन अधिक सफल हो सकता है।

3 किशोर छात्र एवं छात्राओं का समायोजन उत्तम होने से उनमें विद्यालय के प्रति समायोजन उत्तम होने पर उनमें तनाव प्रबंधन उत्तम होगा।

4 भावनात्मक समायोजन उत्तम होने पर सामूहिकता एवं सामाजिक संयोजन विद्यार्थियों में उत्तम हो सकता हैं।

5 शोध से प्राप्त निष्कर्ष के आलोक में कहा जा सकता है कि किशोर छात्र के शैक्षिक निहितार्थ में समायोजन का स्तर उच्च होता है।

Reference-

1. Chandrasekhar, (2023).Comparative study of adjustment capacity among rural and urban students of Hindi medium at higher secondary level. International Journal of Science Social Science Research,1,194-198.
2. Rathore, Akanksha,(2024). Study of adjustment level among boys and girls studying in higher secondary level school. Social Evaluation and History,(13)-1,133-137.
3. Singh, A. K., (2019). Statistics in psychology Sociology and Education, Novelty and Company, Tara Bahaman, Patana .
4. Singh, A.K. ,(2021) . Advanced General Psychology, Motilaal Banarsidas Publishing house, Delhi.
5. Gairet, H. (1996(.Statistics in Psych & Education, Klyani Publishers, New Delhi.
6. Srivastava, R. & Bina, Samyajan Mapani, Manovigyanik Parikshn Sansthan ,Varanasi .
7. गुप्ता, एस०पी०, (2020) आधुनिक मापन एवं मूल्यांकनरू शारदा पुस्तक भवन, प्रयागराज, पृ० 340.
8. श्रीवास्तव, रामजी, (2003) संज्ञानात्मक मनोविज्ञानरू मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृष्ठ 834– 35.
9. भार्गव, महेश. (2003) आधुनिक मनोवैज्ञानिक परीक्षण एवं मापन, एच०पी० भार्गव बुक हाउस, आगरा, पृष्ठ 325.
10. बैरन, रॉबर्ट. (2015) मनोविज्ञानरू डार्लिंग किंडरस्ले इंडिया प्राइवेट लिमिटेड पियर्सन एजुकेशन, दिल्ली.
11. सिंह, ए० के०, (2005), आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ० 637.
12. गुप्ता, एस०पी०,(2020), आधुनिक मापन एवं मूल्यांकन रू शारदा पुस्तक भवन प्रयागराज, पृष्ठ 342.
13. श्रीवास्तव, रामजी, (2003), संज्ञानात्मक मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 839.
14. सारस्वत, मालती, (2020), बाल विकास एवं शिक्षाशास्त्र, न्यू कैलाश प्रकाशन, प्रयागराज, पृष्ठ 195– 196.
15. डॉ० उषा शर्मा– "एक शिक्षक के अनुभव"
16. श्रीवास्तव, डी०, एन०, (1969) रू "चाइल्ड साइकोलॉजी चाइल्ड डेवलपमेंट" विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ 417 – 419.
17. सिंह, आर०,एन०, (2007):"मॉडल जनरल साइकोलॉजी" विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा.
18. डी०, एन०, श्रीवास्तव, (2017), "जनरल ऑफ साइकोलाजी"

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

हिन्दी उपन्यासों में किन्नर जीवन

रोहित कुमार सिंह
शोध छात्र
हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सारांश (Abstract)

हिन्दी साहित्य में किन्नर जीवन का चित्रण अपेक्षाकृत नवीन विषय है। परंपरागत समाज में उपेक्षित, तिरस्कृत और हाशिए पर रखे गए किन्नरों का यथार्थ जीवन आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में संवेदनशीलता, सहानुभूति और सामाजिक चेतना के साथ उभरता है। हिंदी साहित्य में दलित–विमर्श, किसान–विमर्श, अल्पसंख्यक–विमर्श,आदिवासी– विमर्श की ही तरह किन्नर–विमर्श आज किन्नर के जीवन की असलियत को परतदर परत खोलता चला जा रहा है।मानव जाति में स्त्री–पुरुष के अलावा एक और वर्ग है– किन्नर। हिंदी साहित्य में भी यह वर्ग उपेक्षित ही रहा है। अपने अस्तित्व के लिए लड़ता रहा है, किंतु जब हासिए का विमर्श सामने आया तो समाज की मुख्यधारा से कटा यह वर्ग भी साहित्य के जद में आया और किन्नर समाज के प्रति लोगों में संवेदना जगी।हिन्दी उपन्यासों में किन्नर समुदाय के सामाजिक, मानसिक, सांस्कृतिक और मानवीय संघर्षों का अध्ययन करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि समकालीन उपन्यासकारों ने किन्नर जीवन को केवल करुणा के पात्र के रूप में नहीं, बल्कि अस्मिता–संघर्ष और अधिकार–बोध के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है।

मुख्य शब्द – किन्नर, परम्परा, उपेक्षित , तिरस्कृत,किसान –विमर्श, अल्पसंख्यक –विमर्श, आदिवासी –विमर्श, मुख्यधारा, संवेदना, सांस्कृतिक,लैंगिक पहचान, हिन्दी उपन्यास।

भारतीय समाज में किन्नर समुदाय का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परंपराओं में उनकी उपस्थिति के बावजूद उन्हें सदैव हाशिये पर रखा गया। हिन्दी साहित्य, विशेषतः उपन्यास विधा, समाज का यथार्थ प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है। लंबे समय तक किन्नर केवल हास्य, भय या विचित्रता के रूप में चित्रित होते रहे, किंतु आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में उनका मानवीय, संवेदनशील और संघर्षशील रूप सामने आया है। यह परिवर्तन साहित्य में सामाजिक चेतना के विस्तार का संकेत है।
यमदीप, किन्नर कथा, गुलामण्डी, दरमियाना, अस्तित्व, जिन्दगी 50–50, पोस्ट बॉक्स नंबर 203, तीसरी ताली आदि उपन्यासों की कथावस्तु इस समुदाय के सामाजिक आस्तित्व को स्थापित करती हैं। कही पौराणिक आख्यानों में रामायण के अयोध्या काण्ड में राम द्वारा स्त्री पुरुष दोनों को लौट जाने का संदेश–

जथा **जोगु करि विनय प्रनामा, विदा किए सब सानुज नामा ।**
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे, सब सनमानि पा निधि फेरे ।।[1]

हिजड़ो के लिए यहां कुछ नहीं कहा जाता। चौदह वर्ष बाद राम का लौटना और उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर वरदान देना-**जब कलयुग आएगा तब तुम लोग राज करोगे।**[2] रामायण' जैसा प्रसिद्ध आख्यान उनके अस्तित्व की प्रामाणिकता को सुनिश्चित करता है।

महेन्द्र भीष्म एक संवेदनशील कथाकार हैं। उन्होंने किन्नर समाज को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। उनके दोनों उपन्यास 'किन्नर कथा' और 'मैं पायल' किन्नर समाज को देखने की नयीं दृष्टि देते हैं। किन्नरों के प्रति भेद और घृणा समाज की पुरुषवादी मानसिकता का परिणाम है। एक माँ को उसकी हर संतान प्रिय होती है।चाहे वह लड़का हो, लड़की हो या फिर हिजड़ा। किन्तु पुरुष अपनी संतान को झूठी मान–मर्यादा और पुरुषत्व से जोड़कर देखता है। किन्नर कथा उपन्यास में राजा जगत सिंह की पत्नी को जब जुड़वा कन्याओं में से एक के हिजड़ा होने का पता चलता है, तो उसका यही भय साकार हो उठता है। वह दाई निरंजना से कहती है– **'काकी! अब हमाई सबकी लाज तुमाए हाथन है। तुम तो दावजू को सुभाव जानती हो, कितेक गुस्सैल है ये, जा खबर तो वे बर्दाश्त न कर पेहें, काकी तुमे जा बात सबसे छुपाने परे, हमाये तुमाये के अलावा कोऊ न जान पाए, दायजू भी.....उने पता परे तो वे ई नन्हीं –सी जान खां मरवा डारे, काकी तुमे हमाई सौगन्ध..... तुमे जो रुपइय्या पईसा चाऊने हो, मैं मो मागी करों, पर तुमे ई बात हो एकदम गुप्त रखने।**[3]

आभा सिंह का यह भय अकारण नहीं था। सोना के हिजड़ा होने की बात जब चार वर्ष बाद राजा जगत सिंह को पता चलती है, तो वह सोना को मारने का आदेश दे देते हैं। इसका कारण है वही झूठी मान–मर्यादा– **"अरे जब हमने मोह ममता नहीं देखी, तो तुम काय डिग रये, अपने बुंदेला खानदान को नाम डुबा दें, क्षत्री वंश में हिजड़ा, का उ हिजडा को पालें पोसें,अरे आज नहीं तो कल, जब सबके सामने जा बात आ जेहे कि हमाई संतान हिजड़ा है,बुदेला खून हिजड़ा पैदा करत तो का गत हुई हमाई, समझत काय नईय्या तुम इत्ती–सी बात।"**[4]

झूठी शान और मान–मर्यादा के कारण अपनी ही हिजड़ा सन्तान सोना की हत्या का विचार राजा जगत सिंह की न केवल पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता को उजागर करता है, बल्कि भारतीय समाज की किन्नरों के प्रति घृणा एवं उपेक्षा को भी सामने लाता है। इस सोच के शिकार में पायल उपन्यास के जुगनी के पिता भी है, जिन्हें जुगनी का जन्म किसी कलंक के समान लगता है– **'ये जुगनी । हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजडा है....।**[5]

इतना ही नहीं, लड़की की तरह वेश भूषा और मानसिक स्थिति वाली जुगनी को उसके पिता अपने पुरुषत्व को सन्तुष्ट करने और समाज के सवालों से बचने के लिए एक लड़के में रूपान्तरित कर देते हैं– **"अब यह पैंट–शर्ट पहनेगी, लड़का बनकर रहेगी और इसका नाम जुगनू' होगा। कोई भी इसे जुगनी नहीं बोलेगा... अब यह मेरा बेटा है।**[6] किन्तु स्त्री मानसिकता की जुगनी लड़के के रूप में सहज नहीं रहती और लड़की जैसी वेश–भूषा को अपना लेती है. जिससे उसके पिता के पिलपिले अहं को धक्का लगता है। वह उसकी जान लेने पर उतारू हो जाते हैं और उसकी पिटाई करने के बाद उसे रस्सी से लटका देते हैं।किन्तु किसी तरह यह बच जाती है और घर से भागकर आत्महत्या का प्रयास करती है।उसके पाँव में गड़ा एक कॉटा उसकी जिजीविषा को जगा देता है।

सुभाष अखिल द्वारा दरमियाना उपन्यास में स्त्री एवं पुरुष के बीच में होने के कारण दरमियाना ही कहा गया। उपन्यास में लेखक के जीवन में बचपन से लेकर प्रौढावस्था तक संर्पक में आए तारा, रेशमा, संजय उर्फ संध्या, सुनंदा रेखा आदि पात्रो के माध्यम से किन्नर समुदाय के रहन–सहन, वेशभूषा, संस्कृति आदि की जानकारी प्रदान की गई।

लेखक बचपन में तारा एवम् रेशमा किन्नर के सम्पर्क में आता है। तारा किन्नर से अधिक घनिष्ठता होने से दोनो के मध्य माता एवम् पुत्र के समान प्रेम होता है। तारा की मृत्यु के बाद आशु (लेखक) एक बेटे की तरह

तारा का अंतिम संस्कार करता है। रेशमा किन्नर से भी आशु का भावानालक संबंध होता है। आशु रेशमा के लिए बबुआ थे।

तारा की मृत्यु के बाद आशु का मुलाकात संध्या उर्फ संजय से होती है। संजय का (पुरुष) वेश में छट्पटाते स्त्री आत्मा (संध्या) को सामने लाता है। संध्या द्वारा पूर्ण स्त्रीत्व प्राप्त करने से पूर्व ही प्रताप गुरु संजय लिंगोच्छेदन कर देते है। जिस कारण उसकी मृत्यु हो जाती है।

संध्या के बाद सुनंदा किन्नर आशु के जीवन में प्रवेश करती है। जिस की कथा जिस्म और जज्बात का संतुलन' नाम से संगृहीत है। आशु सुनंदा को पहली बार अपने मित्र के घर बधाई माँगने के समय मिलता है। सुनंदा का संबंध आशु के लिए पवित्र एवं भौतिक आकर्षण से परे था। आशु स्वयं इसे स्वीकार करता है– कि **"यह एक ऐसा रूहानी रिश्ता बन रहा था, जिसे कोई भी नाम देना, उस समय संभव नहीं था। ना वह मेरे संसार की थी. ना में उसके संसार का मगर फिर भी हम दोनों का संसार एक स्तर पर आकर समान हो रहा था.. अपने–अपने लिंगभेद और अपने–अपने अलग–अलग आकर्षणों के बावजूद.... ।**[7]

आशु के दिल्ली से गाजियाबाद बसने के बाद वहाँ दयाबाई से उसका संपर्क होता है। दयाबाई राजनीतिक रूप से जागरूक किन्नर है। जिन्होंने समाज की भलाई के लिए कई बार चुनाव लड़े, पर हर बार धन–बल न होने के कारण हार का सामना करना पड़ा। दयाबाई का अंत भी उपन्यास में बड़ा ही मार्मिक तरीके से होता है। संपत्ति के लालच में उसी की भतीजी द्वारा उसकी हत्या करवा दी जाती है। इस तरह उपन्यास किन्नर पात्रों के संपर्क से उनके जीवन संघर्ष को पाठकों के सामने उजागर करता है।

जिन्दगी 50–50 (भगवंत अनमोल) नायक अनमोल एम. एन. सी. के कार्यरत है। अपनी ही कम्पनी की नई कार्मिक अनाया के प्रति आकषिर्त होता है अनाया और अनमोल का प्रेम शारीरिक ना होकर नैसर्गिक है इनका रिश्ता विवाह की परिणति तक नहीं पहुंच पाता।

उपन्यास में अनमोल एवं अनाया की प्रेम कथा के समानांतर ही अनमोल के भाई हर्षा एवं पुत्र सूर्या की कथा चलती है। यहाँ सूर्या एवं हर्षा लैगिक रूप से विकलांग है, जिन्हें अपने जीवन में पारिवारिक, सामाजिक स्तर पर हमेशा से ही प्रताडना झेलनी पड़ी। हर्षा को उसके पिता अपना पितृकर्म निभाते हुए पालते पोसते हैं। उसकी शिक्षा–दीक्षा की भी समुचित व्यवस्था कर उसे विद्यालय भी भेजते हैं. पर उसके प्रति भावनात्मक रूप से संवेदनहीन है। एक पुत्र को पिता का जो स्नेह मिलता है हर्षा उस स्नेह से हमेशा वंचित रहता है।

पिता को भी हर्षा के किन्नर रूप में जन्म लेने के बाद से ही समाज में हर जगह शर्मिंदगी का सामना ही करना होता है। किन्नर के जन्म के बाद बालक को किन्नर समुदाय अपने पास ले जाने का प्रयास भी करते हैं। उपन्यास में भी यही होता है जब कस्तूरी किन्नर उसे लेने पहुँचती है। मना करने पर कस्तूरी द्वारा अपना आक्रोश भी प्रकट किया जाता है– **"पर एक बात नोट कर ले तिवारी। हिजड़े का बाप है तू, हिजडे का। और इतना आसान न है समाज में एक हिजड़े का बाप बन कर जीना । सुई की नोक पर रहना होता है। इसकी चुभन से तोहरा पैर ही नहीं, तोहरा शरीर ही नहीं, तोरी आत्मा भी तड़पेगी। यह समाज तुझे जीने न देगा, या तू खुद मर जाएगा.या फिर तंग आकर खुद चलते हुए उस बच्चे को हमारे यहां देने आएगा।"**[8]

तिवारी हर्षा को किन्नरों को नहीं सौंपता, लेकिन मानसिक पताड़ना से तंग आकर वह स्वयं कस्तूरी के डेरे में पहुंच जाता है। वहां पर अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए वह भीख मांगते हुए अपने पिता से मिल जाता है। पिता को कोई परेशानी न हो इसलिए गांव छोडकर मुम्बई चला जाता है। वहां पैसों की तंगी के कारण वह यौनकर्मी के रुप में काम करता है। जिससे एड्स जैसे जानलेवा बिमारी से गतित हो जाता है।

अपने भाई अनमोल से मिलकर उसे जरूर सहानुभूति प्राप्त होती है। फिर भी वह एड्स से मरने के बजाय अपने प्राण त्याग आत्महत्या कर लेता है। अनमोल को हर्षा के मरने के बाद उसकी डाम्ररी मिलती है। जिससे वह उसके सघर्ष, उसकी पीड़ा को समझ पाता है।

उपन्यास में जब अनमोल के संतान का जन्म होता है, तब वह भी अपने चाचा की तरह अलिंगी होता है। अनमोल नहीं चाहता है उसका बेटा भी हर्षा के जैसा जीवन बिताए वह समाज से संघर्ष करते हुए अपने बेटे के सपने को पूरा करने में हरसम्भव प्रयास करता है अततः उसका बेटा डिटेक्टिव का लाइसेंस प्राप्त करता है। उपन्यास में अनाया अनमोल–आशिका की प्रेम कहानी के साथ ही तीसरे कोण के किन्नर व्यक्ति के जीवन की विधियों को अपने भाई एवम् पुत्र के माध्यम से कथा नायक ने यथार्थ के धरातल पर ले जाकर वर्णन किया है। इस विषय में उपन्यास अपने आप में नयापन लिए हुए है।

गुलाम मंडी (निर्मला मुराडिया) ने कल्याणी के माध्यम से ही उपन्यास में हिजड़ा समुदाय का परिचय प्रारम्भ होता है। आगे चलकर हिजड़ा पात्रों हमीदा, अंगुरी, वृंदा गुरु, अनारकली आदि के माध्यम से वास्तविक स्थिति के साथ ही साथ इनके व्यक्तिगत अनछुए, अनदेखे सत्य से भी उपन्यास हमें रूबरू कराता है। किन्नरो के बुनियादी जरूरते, रोजगार, शिक्षा स्वास्थ्य आदि समस्याओं पर विचार रखे गए है। किन्नरों को पुलिस की शारीरिक पताड़ना झेलना पड़ता है। पुलिस भी किन्नरों का शोषण करने से पीछे नहीं हटती रहती। अंगुली एवं चमेली ऐसे ही पात्र है जिन्हे पुलिस द्वारा यौन शोषण झेलना पड़ता है।

हिजड़ों की आपसी रंजिश एवं संपत्ति के लिए होने वाले संघर्ष को भी उपन्यास में बखूबी चित्रित किया गया। जिसमें गुरु हमीदा की हत्या नेक मांगने के बंटवारे को लेकर लल्लन गुरु व उसके साथी अयूब साकी द्वारा कर दी जाती है। छोटे शहर के सब अखबारों में यह पहले पेज की न्यूज थी। हिजड़ों की सरदार हमीदा की हत्या। हत्या का शक लल्लन गुरु के साथी किन्नर अयूब साकी पर। अयूब साकी फरार। खून से सना फरसा जब्त । हिजडों में गैंगवार । नेग मांगने की टेरिटरी को लेकर थी लड़ाई हर अखबार में बात अलग–अलग ढंग से कही गई थी मगर खबर का सार यही था कि नयी–नयी गुरु बनी हमीदा की हत्या हो गई थी।[9]

यह कहना न्यायसंगत होगा कि अब तक जितने भी उपन्यास कहानियाँ लिखी गयी हैं सभी में यह आग्रह है कि सोच को उभार दो, समझ को संस्कार दो। निःसंदेह सोच में बदलाव एवं किन्नर विमर्श को आगे बढ़ाने में साहित्य ही मील का पत्थर साबित हो सकता है। साहित्यकार जब अपनी लेखनी से इनकी गोपनीय दुनिया का सच समाज के सामने लायेंगे तो निश्चित ही सोच बदलेगी, तब हम शायद इस बात को बेहतर ढंग से समझ सके कि यह वर्ग समाज में केवल नांच गाकर हमारा मनोरंजन करने के लिये पैदा नहीं हुआ है,इन्हें भी हक है गरिमामयी जीवन जीने का।

संदर्भ –सूची–

1. तुलसीदास: रामचरितमानस, अयोध्या कांड, पृष्ठ संख्या 557
2. महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ०–सं– 40
3. महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ०सं–16
4. महेन्द्र भीष्म, किन्नर कथा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ०–सं–27
5. महेन्द्र भीष्म, में पायल..... अमन प्रकाशन कानपुर, 2016–पृ०–सं–26
6.महेन्द्र भीष्म, में पायल..... अमन प्रकाशन कानपुर, 2016–, पृ० सं–32
7 सुभाष अखिल : दरमियाना, पृ०.सं.–72
8 भगवंत अनमोल : जिन्दगी 50–50, पृ०सं.–35
9. निर्मला मुराडियाः गुलाम मंडी, पृ०सं.–181

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

भारत में सूक्ष्म वित्तीय संस्थाओं के लिए विनियामक ढाँचा

डॉ. आशा कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर – अर्थशास्त्र विभाग,
महाराज बलवंत सिंह पीजी कॉलेज गंगापुर वाराणसी।
मनोज कुमार यादव
असिस्टेंट प्रोफेसर – अर्थशास्त्र विभाग,
डॉ.राम मनोहर लोहिया पीजी कॉलेज भैरव तालाब वाराणसी।

सार (*Abstract)*

भारत में सूक्ष्म वित्तीय संस्थानों (*Microfinance Institutions)* के लिए विनियामक ढांचा मुख्य रूप से भारतीय रिज़र्व बैंक (*RBI)* द्वारा निर्धारित और लागू किया जाता है। यह ढांचा वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देने, उधारकर्ताओं की सुरक्षा सुनिश्चित करने, अति-ऋणग्रस्तता (*over-indebtedness)* को रोकने तथा क्षेत्र में पारदर्शिता और निष्पक्ष व्यवहार स्थापित करने के उद्देश्य से विकसित किया गया है। सूक्ष्म वित्त क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की संस्थाएं सक्रिय हैं, जिनमें वाणिज्यिक बैंक (*Small Finance Banks, Regional Rural Banks* सहित), सहकारी बैंक, गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनियां (*NBFC-MFIs)* तथा कुछ आवास वित्त कंपनियां शामिल है।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गरीबों को ऋण उपलब्ध कराना, भारतीय नीति निर्माताओं के लिए चिंता का प्रमुख विषय रहा है और प्रारंभ में केवल सहकारी समितियों ने औपचारिक वित्तीय संस्थाओं की भूमिका निभाते हुए गरीबों को ऋण उपलब्ध कराने में योगदान दिया। इस क्षेत्र में ऋण के प्रवाह को बढ़ाने के उद्देश्य से वाणिज्यिक बैंकों का वर्ष 1969 में चरणबद्ध तरीके से राष्ट्रीयकरण किया गया। उसके उपरांत बैंकिंग सेवाओं से रहित क्षेत्रों में, बैंक शाखाओं की संख्या के संदर्भ में वाणिज्यिक बैंकों का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है। ग्रामीण ऋण वितरण प्रणाली को प्रोत्साहन देते हुए वर्ष 1975 के बाद भारत में एक अद्वितीय संस्था के तौर पर क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (आरआरबी) का गठन किया गया, जिसका स्वरूप स्थानीय संस्थाओं के सदृश था और ये स्थानीय परिस्थितियों से परिचित थे, परंतु इनके संचालन की प्रकृति वाणिज्यिक थी।

वर्तमान में भारतीय औपचारिक वित्तीय प्रणाली का दायरा काफी विस्तृत है, जिसमें वाणिज्यिक बैंक, आरआरबी और सहकारी बैंक शामिल हैं। वाणिज्यिक बैंकों की लगभग 32,885 ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी शाखाएँ, आरआरबी की 14,303 शाखाएँ और सहकारी बैंकों के लगभग 92,000 ग्रामीण केंद्रों के माध्यम से सूक्ष्म वित्त सेवाएँ उपलब्ध करायी जाती है। विभिन्न प्रकार की नीतिगत पहल के कारण पिछले कुछ वर्षों में बैंकिंग की बुनियादी संरचना का काफी विकास हुआ है। बुनियादी संरचना के निर्माण की आवश्यकता ने इस नीतिगत पहल को प्रेरित किया, जिसका उद्देश्य समाज के गरीब तबके के लोगों के लिए ऋण के प्रवाह को बेहतर बनाना था। अखिल भारतीय ऋण एवं निवेश सर्वेक्षण, 1991-92 के अनुसार, बैंकों की विशालकाय आधारभूत संरचना के बावजूद लगभग 36 प्रतिशत ग्रामीण ऋणग्रस्त परिवार आज भी अनौपचारिक क्षेत्र पर निर्भर हैं। अल्प परिसंपत्ति वाले समूह के मामले में अनौपचारिक क्षेत्र पर निर्भरता काफी अधिक थी।

<u>एसएचजी-बैंक जुड़ाव (सहलग्नता) कार्यक्रम-</u>

दशक में कार्यवाही अनुसंधान अध्ययनों की एक श्रृंखला प्रारंभ की. जिसका उद्देश्य इस बात का उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) ने 1980 पता लगाना था कि किस कारणवश औपचारिक बैंकिंग प्रणाली द्वारा ज्यादातर गरीबों की उपेक्षा की जाती है तथा बैंकिंग प्रणाली द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले उत्पाद एवं सेवाएँ ग्रामीणों की आवश्यकता के अनुरूप है अथवा नहीं।

इन अध्ययनों से इस बात की पुष्टि हुई कि निर्धनतम लोगों की एक बड़ी संख्या औपचारिक बैंकिंग प्रणाली के दायरे से बाहर है। इन अध्ययनों से यह भी पता चला कि, मौजूदा बैंकिंग नीति प्रणाली एवं प्रक्रिया तथा जमा एवं ऋण से संबंधित उत्पाद गरीबों की तात्कालिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिहाज से अनुपयुक्त हैं। मांग के परिप्रेक्ष्य में किए गए अध्ययन के निष्कर्षों से यह पता चला कि, वास्तव में गरीबों को किफायती और इमदादी ऋण के बजाय इन सेवाओं और उत्पादों तक बेहतर पहुंच की आवश्यकता थी।

इस प्रकार वैकल्पिक नीतियों, प्रणालियों, प्रक्रियाओं, बचत एवं ऋण उत्पादों, अन्य अनुपूरक सेवाओं तथा नई वितरण प्रणाली का अन्वेषण प्रारंभ हो गया, जिसका उद्देश्य गरीबों, विशेष तौर पर गरीब परिवारों की महिलाओं की आवश्यकताओं को पूरा करना था। इसलिए, गरीबों सूक्ष्म-ऋण के बजाय सूक्ष्म वित्त उपलब्ध कराने पर ज्यादा बल दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं के नेटवर्क की मौजूदगी को देखते हुए वैकल्पिक संगठनों के निर्माण पर ध्यान नहीं। को गया, बल्कि मौजदा बैंकिंग नेटवर्क के माध्यम से गरीबों तक वित्तीय सेवाओं की पहुंच में सपा के तरीकों एवं साधनों की तलाश पर ध्यान दिया गया। इसके परिणामस्वरूप स्वयं सहायता (एसएचजी) बैंक जुड़ाव मॉडल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका उपयोग मौजुदा बैंकिंग प्रणाली के द्वारा निर्धनतम व्यक्ति तक पहुंचने के लिए किया जा सकता था, जिसकी अभी तक उपेक्षा की थी। इस मॉडल में गरीबों के छोटे, एकजुट और प्रतिभागी समूहों के निर्माण की परिकल्पना की गई थी, जिसमें उन्हें अपनी बचत को नियमित रूप से जमा करने तथा जमा राशि को अपने सदस्यों को ब्याज पर छोटे-छोटे ऋण उपलब्ध कराने के लिए प्रोत्साहित किया गया, साथ ही इस प्रक्रिया ने उन्हें वित्तीय अनुशासन की बारीकियों को सीखने का अवसर प्रदान किया। एसएचजी की अवधारणा को अद्वितीय बनाने वाले कई कारक हैं, जैसे किः

पहला, इसमें औपचारिक एवं अनौपचारिक, दोनों प्रणालियों को शामिल किया गया है।

दूसरा, इसमें सामाजिक पूँजी के साथ-साथ वित्तीय पूँजी में वृद्धि की अपेक्षा की गई है, जिसे
अर्थपूर्ण विकास की पूर्वपिक्षा माना जाता है।

तीसरा, कुछ यह कुछ प्रमुख सिद्धांतों में लचीलेपन की अनुमति देता है (ब्याज की दर
पुनर्भुगतान कार्यक्रम, किस्त का आकार, इत्यादि

चौथा, यह बैंकरों की व्यावसायिक कुशलता तथा समूह की बुद्धिमत्ता एवं अनुभव के साथ-साथ स्थानीय ज्ञान के बीच अन्योन्यक्रिया का अवसर देता है।

एनजीओ-एमएफआई को आयकर में छूट दी गई है। कई बार कर संग्रह अधिकारियों ने धर्मार्थ गतिविधि के तौर पर सूक्ष्म वित्त की स्थिति पर प्रश्न चिन्ह लगाए हैं।

* एनजीओ-एमएफआई को गैर-निगमित निकाय माना जाता है और आरबीआई अधिनियम के अनुसार, ऐसे निकायों को जनता से जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति नहीं है। इसके बावजूद, इनमें से कई संगठन अपने ऋण प्राप्तकर्ताओं से जमा राशि स्वीकार करते हैं। ऐसे में छोटे बचतकर्ताओं के हितों की रक्षा करना आवश्यक है।

* वास्तव में एनजीओ-एमएफआई का मालिकाना हक किसी व्यक्ति के पास नहीं होता है, क्योंकि इसके संरक्षकों की पूँजी दाँव पर नहीं लगी होती है। ऐसी स्थिति में, बैंक इन संगठनों को ऋण देने में संकोच करते हैं, क्योंकि इन संस्थाओं की स्थानीय प्रतिष्ठा को ही उनके ऋण पुनर्भुगतान की क्षमता का सूचक माना जाता है।

धारा 25 के तहत पंजीकृत कंपनियों के लिए-

धारा 25 के अंतर्गत पंजीकृत कंपनियों को गैर-लाभकारी संस्थान का दर्जा प्राप्त है, परंतु यह बात स्पष्ट नहीं है कि इस प्रकार के एमएफआई सूक्ष्म वित्त की गतिविधि के संचालन के पात्र हैं अथवा नहीं।

धारा 25 के अंतर्गत पंजीकृत कंपनियों को भी जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति नहीं है,

इसके बावजूद इनमें से कई संगठन अपने सदस्यों से जमा राशि स्वीकार करते हैं।

एनबीएफसी के लिए

केवल एनबीएफसी को हम ऐसे एमएफआई की श्रेणी में रख सकते हैं, जो रिजर्व बैंक के विनियमन के दायरे में हैं और विवेकसम्मत नियमों के अधीन हैं। एमएफआई के विशेषज्ञों की ओर से विनियमन के लिए मौजूदा ढाँचे की तुलना में अधिक उदार ढाँचे की मांग की गई है, जिस पर अनुवर्ती परिच्छेद में चर्चा की गई है:

- वर्तमान में एनबीएफसी के लिए आवश्यक न्यूनतम पूँजी को 2 करोड़ रुपए निर्धारित किया गया है। एनजीओ से एनबीएफसी के तौर पर परिणत होने की इच्छा रखने वाले कई एनजीओ के अनुसार यह राशि काफी अधिक है। इसके अलावा एनजीओ को लाभकारी' संस्थाओं में पूँजी निवेश की अनुमति नहीं दी जाती है, जिसमें एनबीएफसी भी शामिल है। इसके परिणामस्वरूप एनजीओ के लिए एनबीएफसी में परिणत होना काफी कठिन है। यही कारण है कि केवल कुछ गिने-चुने एमएफआई ही एनबीएफसी के तौर पर पंजीकृत हैं।

* सूक्ष्म वित्त गतिविधियों में संलग्न एनबीएफसी को आरबीआई द्वारा जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति दी गई है, परंतु यह निर्धारित मानदंडों के अनुरूप होना चाहिए। सर्वप्रथम, इस परिदृश्य में वर्ष 1993 में एक प्रायोगिक परियोजना के तौर पर नाबार्ड द्वारा एसएचजी-बैंक जुड़ाव कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इसके सकारात्मक परिणामों से उत्साहित होकर वर्ष 1996 में भारतीय रिजर्व बैंक ने बैंकों को इसे मुख्यधारा में शामिल करने की सलाह दी। वर्ष 1999 के बाद दोनों के सहयोग से नाबार्ड ने औपचारिक एवं अनौपचारिक क्षेत्र के विभिन्न हितधारकों के साथ से इस कार्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर प्राथमिकता दी गई। भारत सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक, मिलकर इस कार्यक्रम का सफलतापूर्वक संचालन किया।

मार्च 2006 तक, कुल 3.29 करोड़ ग्रामीण परिवारों को शामिल करते हुए 2.24 लाख एसएचजी किया गया। एसएचजी-बैंक जुड़ाव मॉडल में मौजूदा विवेकसम्मत एवं विनियमित बैंकिंग क्षेत्र का उपयोग किया जाता है, इसलिए यह विनियामक तंत्र से जुड़ी सभी समस्याओं से परे है।

सूक्ष्म वित्त संस्थाओं (एमएफआई) का अभ्युदय–

प्रायोजित कार्यक्रमों के माध्यम से गरीबों को ऋण वितरण करने की प्रणाली में पुनर्प्राप्ति की दर बेहद घटिया रही है, जिसने ऋण की पुनरावृत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। इसके अलावा उत्पादों के संदर्भमें निर्धनों की आवश्यकता एवं उत्पादन वितरण तंत्र तथा पारंपरिक वित्तीय संस्थानों द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले उत्पादों के बीच असंतुलन है। इस असंतुलन के कारण उत्पन्न अंतराल को कम करने के उद्देश्य से सूक्ष्म वित्त संस्थाओं (एमएफआई) का उदय हुआ। एमएफआई को बैंकों के अलावा ऐसे वित्तीय संस्थानों के तौर पर परिभाषित किया जा सकता है, जो गरीबों को वित्तीय सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। संगठनात्मक स्वरूप के आधार पर एमएफआई को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

गैर-लाभप्राप्तकर्ता एमएफआई-

* संस्था पंजीकरण अधिनियम, 1860 अथवा इसी प्रकार के राज्य अधिनियमों के तहत पंजीकृत संस्थाएँ

* भारतीय न्यास अधिनियम, 1880 अथवा धार्मिक या धर्मार्थ सार्वजनिक न्यास को नियंत्रित करने वाले राज्य के किसी अधिनियम के तहत पंजीकृत सार्वजनिक न्यास

* कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के तहत पंजीकृत गैर-लाभकारी कंपनियाँ, जिन्हें आरबीआई के साथ पंजीकरण के संदर्भ में विशेष छूट दी जाती है।

पारस्परिक हितलाभ वाले एमएफआई-

* राज्य ऋण सहकारी समितियाँ
* राष्ट्रीय ऋण सहकारी समितियाँ
* पारस्परिक सहायता प्राप्त सहकारी समितियाँ (एमएसीएस)

विनियामक ढाँचे की आवश्यकता-

निम्नलिखित कारणों से एमएफआई के लिए विनियामक ढाँचे की आवश्यकता है:

एनजीओ-एमएफआई के लिए

* विधिक स्वरूप में विविधता के बावजूद, अधिकांश वित्तीय संस्थानों के लिए किसी बड़े वित्तीय संस्थान को रिपोर्ट करना आवश्यक है, जैसे कि आरबीआई, नाबार्ड, सेबी या इस उद्देश्य के लिए निर्दिष्ट कोई अन्य एजेंसी। सूक्ष्म वित्त में संलग्न एनजीओ-एमएफआई ऐसी किसी भी सांविधिक निकाय को रिपोर्ट नहीं करते हैं।
* एनजीओ के अधिनियम की प्रस्तावना में उनके सूक्ष्म वित्त की गतिविधियों का स्पष्ट तौर पर वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसे संगठन केवल धर्मार्थ उद्देश्यों से संबंधित गतिविधियों का संचालन कर सकते हैं। धर्मार्थ गतिविधियों के संचालन को देखते हुए एनजीओ-एमएफआई को आयकर में छूट दी गई है। कई बार कर संग्रह अधिकारियों ने धर्मार्थ गतिविधि के तौर पर सूक्ष्म वित्त की स्थिति पर प्रश्न चिन्ह लगाए हैं।
* एनजीओ-एमएफआई को गैर-निगमित निकाय माना जाता है और आरबीआई अधिनियम के अनुसार, ऐसे निकायों को जनता से जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति नहीं है। इसके बावजूद, इनमें से कई संगठन अपने ऋण प्राप्तकर्ताओं से जमा राशि स्वीकार करते हैं। ऐसे में छोटे बचतकर्ताओं के हितों की रक्षा करना आवश्यक है।
* वास्तव में एनजीओ-एमएफआई का मालिकाना हक किसी व्यक्ति के पास नहीं होता है, क्योंकि इसके संरक्षकों की पूँजी दाँव पर नहीं लगी होती है। ऐसी स्थिति में, बैंक इन संगठनों को ऋण देने में संकोच करते हैं, क्योंकि इन संस्थाओं की स्थानीय प्रतिष्ठा को ही उनके ऋण पुनर्भुगतान की क्षमता का सूचक माना जाता है।

धारा 25 के तहत पंजीकृत कंपनियों के लिए-

धारा 25 के अंतर्गत पंजीकृत कंपनियों को गैर-लाभकारी संस्थान का दर्जा प्राप्त है, परंतु यह बात स्पष्ट नहीं है कि इस प्रकार के एमएफआई सूक्ष्म वित्त की गतिविधि के संचालन के पात्र हैं अथवा नहीं।

धारा 25 के अंतर्गत पंजीकृत कंपनियों को भी जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति नहीं है,

इसके बावजूद इनमें से कई संगठन अपने सदस्यों से जमा राशि स्वीकार करते हैं।

<u>एनबीएफसी के लिए</u>

केवल एनबीएफसी को हम ऐसे एमएफआई की श्रेणी में रख सकते हैं, जो रिजर्व बैंक के विनियमन के दायरे में हैं और विवेकसम्मत नियमों के अधीन हैं। एमएफआई के विशेषज्ञों की ओर से विनियमन के लिए मौजूदा ढाँचे की तुलना में अधिक उदार ढाँचे की मांग की गई है, जिस पर अनुवर्ती परिच्छेद में चर्चा की गई है:

- वर्तमान में एनबीएफसी के लिए आवश्यक न्यूनतम पूँजी को 2 करोड़ रुपए निर्धारित किया गया है। एनजीओ से एनबीएफसी के तौर पर परिणत होने की इच्छा रखने वाले कई एनजीओ के अनुसार यह राशि काफी अधिक है। इसके अलावा एनजीओ को लाभकारी' संस्थाओं में पूँजी निवेश की अनुमति नहीं दी जाती है, जिसमें एनबीएफसी भी शामिल है। इसके परिणामस्वरूप एनजीओ के लिए एनबीएफसी में परिणत होना काफी कठिन है। यही कारण है कि केवल कुछ गिने-चुने एमएफआई ही एनबीएफसी के तौर पर पंजीकृत हैं।

- सूक्ष्म वित्त गतिविधियों में संलग्न एनबीएफसी को आरबीआई द्वारा जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति दी गई है, परंतु यह निर्धारित मानदंडों के अनुरूप होना चाहिए। सर्वप्रथम,पंजीकरण के 3 वर्ष बाद ही एनबीएफसी द्वारा जमा राशि को स्वीकार किया जा सकता है। दूसरा, एनबीएफसी को किसी मान्यता प्राप्त रेटिंग एजेंसी से निवेश ग्रेड रेटिंग प्राप्त करना होता है। तीसरा, एनबीएफसी को केवल सावधि जमा स्वीकार करने की अनुमति है, जो एक से पाँच वर्ष तक के लिए हो सकती है और यह ब्याज दर की उच्च्चतम सीमा के अधीन है। चौथा, जिस क्षेत्र में इनका पंजीकरण हुआ है वहां उन्हें एक निश्चित सीमा तक जमा राशि एकत्रित करने की अनुमति दी गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये निर्धारित मानदंड काफी कठोर हैं। एनबीएफसी के लिए निर्धारित मानदंडों का अनुपालन करना काफी कठिन है, और इसलिए इन्होंने स्वयं को जमा राशि के एकत्रीकरण से दूर रखा है।
- भारत सरकार ने एनबीएफसी में विदेशी इक्विटी निवेश की अनुमति प्रदान की है, जिसकी लिए निर्धारित अधिकतम राशि 5,00,000 अमेरिकी डॉलर है और इसकी अधिकतम सीमा 51 प्रतिशत है।

मोटे तौर पर, विनियामक ढाँचे की आवश्यकता के दो प्रमुख कारक हैं। पहला, गरीबों के बचत की असीम संभावना का क्षेत्र आज तक अछूता है, और विनियमन के जरिए एमएफआई के ग्राहकों को बचत सेवाएँ उपलब्ध कराई जा सकती हैं। दूसरा, अधिकांश एमएफआई अपने संसाधनों के लिए अनुदानकर्ताओं पर निर्भर हैं, और उनके संसाधन बेहद सीमित हैं। विनियामक हाँचे से एमएफआई के लिए बचत एवं वाणिज्यिक ऋण की उपलब्धता बेहतर होगी, जिससे उनके दायरे का विस्तार होगा।

निष्कर्ष-

भारत में एमएफआई का क्षेत्र विषमताओं से परिपूर्ण है, जिसमें ऋण की संतोषजनक मात्रा के साथ कुछ गिने चुने एमएफआई की पहुंच का दायरा अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार के एमएफआई पहले से ही एनबीएफसी के रूप में विनियमित हैं, परंतु बाकी बचे एमएफआई की संख्या काफी अधिक है, जिनका आकार आमतौर पर काफी छोटा है और ये बेहद छोटे भौगोलिक क्षेत्र में कार्यरत हैं। इस प्रकार के एमएफआई को प्रभावी पर्यवेक्षण एवं विनियमन के दायरे में लाने से पूर्व, इनके क्षमता निर्माण की दिशा में बड़े पैमाने पर प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। वर्तमान में एमएफआई को विनियमित करने की दिशा में उठाया जाने वाला कदम संभवतः उनके विकास को अवरूद्ध कर देगा और उनके क्षीणकाय विकासात्मक उपक्रमों का शमन कर देगा। ऐसे में इनके लिए विनियामक ढाँचे के बजाय विकासशील डाँचे का निर्माण अत्यावश्यक है।

संदर्भ सूची:-

1.GTZ. 2004. Emerging Scenario for Microfinance Regulation in India: Some Observations from the Field". Eschborn: GTZ.

2.NABARD 1999, Task Force on Supportive Policy and Regulatory Framework for Micro Finance Report. Mumbai: NABARD

3.RBI 2004. Advisory Committer on Flow of Credit to Agriculture and Related Activities from The Banking System Report" Mumbai RBL Unpublished reports of NABARD, Mumbai

4.World Bank: 2004. "India Scaling up Access to Finance for India's Rural Poor: Report" New Delhi, World Bank

The Portrait of the Protagonist as a Rebel: A Reading of Mahasweta Devi's "Droupadi"

Dr. Shafiqur Rahman
Assistant Professor in English
Government Degree College, Dumariyaganj, Siddharthnagar
Email: rahmanshafiqur025@gmail.com

Abstract

*This paper examines Mahasweta Devi's **"Droupadi"** as a radical reconfiguration of myth, gender, and resistance through the figure of Dopdi Mehjen. Situating the text within feminist criticism, subaltern studies, and postcolonial discourse, the study argues that Devi transforms the epic archetype of Draupadi into a modern political subject whose body becomes a site of defiance rather than shame. Drawing upon critical insights from Gayatri Chakravorty Spivak and Rajeswari Sunder Rajan, the analysis explores how sexual violence—typically deployed as an instrument of patriarchal domination—is symbolically reversed through Dopdi's refusal to internalize humiliation. The paper further demonstrates that Devi dismantles mythological glorification, denies divine intervention, and instead foregrounds material realities of state violence, class oppression, and tribal marginalization. By rejecting clothing after her assault, Dopdi subverts conventional notions of honour and exposes the fragility of masculine authority embodied in Senanayak. Ultimately, the study argues that Devi's protagonist represents a new paradigm of resistance in Indian literature: a subaltern woman who refuses victimhood, asserts agency, and destabilizes hegemonic power structures through embodied rebellion.*

Keywords

Mahasweta Devi; Droupadi; Dopdi Mehjen; Feminist Resistance; Subaltern Studies; Sexual Violence; Patriarchy; Myth Revisionism; Tribal Identity; Postcolonial Feminism

Mahasweta Devi and the Politics of Representation

Mahasweta Devi occupies a singular position in modern Indian literature because her creative vision is inseparable from her political commitment. Unlike writers who focus primarily on urban middle-class experience, she consistently foregrounds the lives of tribal communities, bonded labourers, dispossessed peasants, and marginalized women. Her literary project is thus not merely aesthetic but ethical and ideological. She writes from a standpoint of solidarity with oppressed groups and transforms fiction into a mode of historical testimony. As critics have noted, her work exposes "the monstrous exploitative mechanism… [that] reduces human beings to the level of mere beasts" (Satyanarayana). Such a characterization underscores the structural dimension of oppression in her narratives: exploitation is not accidental but systemic.

Devi's writing is marked by a distinctive fusion of reportage and storytelling. She often incorporates documentary detail—names of districts, police records, military operations, and legal procedures—into fictional narratives. This hybrid mode challenges the conventional boundary

between literature and history. In doing so, she contests the official historiography that frequently erases subaltern experiences. Her fiction therefore becomes an alternative archive that preserves voices excluded from institutional memory.

Women occupy a central position within this archive. In many of her works, female characters are portrayed as targets of patriarchal violence and social control. As Dodiya and Surendran observe, they are often "the target of the great upholders of traditional values." Yet Devi does not depict them as passive victims. Instead, they confront oppression with a resilience that disrupts dominant narratives of female submission. Her protagonists rarely inhabit the psychological interiority associated with modernist fiction; rather, they exist within concrete socio-political struggles. Their conflicts are not existential but material—hunger, land rights, sexual violence, and state repression. This emphasis marks Devi's departure from literary traditions that privilege introspective subjectivity over collective historical experience.

Historical Context: Naxalbari, Tribal Resistance, and State Violence

Understanding "Droupadi" requires attention to the socio-political context from which it emerges. The story is set against the background of the Naxalite movement, a radical Maoist insurgency that began in West Bengal in the late 1960s. The movement arose from deep agrarian inequalities and the exploitation of tribal labourers by landlords and moneylenders. State authorities responded with military force, treating insurgents as enemies of the nation. In this climate, tribal populations were frequently subjected to surveillance, arrest, torture, and extrajudicial killings.

Devi's narrative does not romanticize revolution; rather, it depicts the brutal realities of counterinsurgency. Dopdi Mehjen and her husband Dulna Majhi are portrayed as participants in militant resistance against oppressive landlords such as Surja Sahu. Their political engagement is rooted not in ideology alone but in lived experience of exploitation. By situating her protagonist within this historical struggle, Devi emphasizes that resistance is not an abstract principle but a necessity born of material conditions.

The figure of Senanayak embodies the logic of the modern state. He is educated, methodical, and rational, yet he administers violence with bureaucratic efficiency. His authority derives not from personal cruelty but from institutional legitimacy. Through this characterization, Devi suggests that modern state power often operates through impersonal mechanisms that conceal responsibility. Violence becomes normalized when it is justified as national security or law enforcement.

Theoretical Framework: Feminist, Subaltern, and Postcolonial Perspectives

Mahasweta Devi's narrative invites interpretation through multiple theoretical frameworks, particularly feminist criticism and subaltern studies. From a feminist perspective, Dopdi's body functions as a contested ideological terrain upon which power, violence, and resistance are inscribed. Feminist theorists have long argued that the female body is central to patriarchal control, since social systems regulate women's sexuality, mobility, and appearance. In "Droupadi," this regulation takes the form of sexual assault used as punishment. Yet Devi transforms the violated

body into an instrument of defiance. Instead of representing rape as the destruction of identity, she portrays it as the moment in which resistance becomes visible.

Subaltern studies provides another interpretive lens. Gayatri Chakravorty Spivak's famous question, "Can the subaltern speak?", highlights the difficulty of representing marginalized voices within dominant discourse. Dopdi appears to answer this question through her actions rather than through rhetorical speech. Her silence, gestures, and refusal constitute forms of articulation that challenge both patriarchal and institutional authority. She speaks through what Spivak might call a performative utterance: her nakedness becomes a language that power cannot translate.

Postcolonial theory further illuminates the narrative. The modern Indian state, though independent from colonial rule, inherits structures of surveillance, militarization, and administrative control from colonial governance. Senanayak's methods resemble those of colonial officers who sought to pacify rebellious populations. Devi thereby suggests that postcolonial nationalism can reproduce the very forms of domination it once opposed. Dopdi's resistance exposes this continuity, revealing that independence does not automatically guarantee justice for marginalized communities.

Myth and Rewriting: Dopdi as Counter-Epic Figure

A crucial aspect of "Droupadi" is its intertextual engagement with the Mahabharata. The protagonist's name deliberately recalls Draupadi, the epic heroine whose disrobing in the Kuru court constitutes one of the most dramatic episodes in Indian mythology. By invoking this mythic figure, Devi invites readers to compare the two women. The comparison initially appears ironic: the epic Draupadi is a queen protected by divine intervention, whereas Dopdi is an impoverished tribal woman abandoned to state violence. Yet the contrast ultimately subverts traditional hierarchies.

Spivak observes that Mahasweta's protagonist is "at once a palimpsest and contradiction." The term *palimpsest* suggests a layered text in which traces of earlier writing remain visible beneath later inscriptions. Dopdi's identity likewise contains the imprint of Draupadi while simultaneously rewriting it. In the epic, Draupadi's honour is preserved when Krishna miraculously extends her garment, preventing her disrobing. This divine intervention affirms a cosmic moral order in which virtue is protected. Devi rejects such transcendence. Dopdi receives no miraculous rescue; her body bears the marks of violence. By removing divine intervention, Devi relocates the narrative from mythic time to historical reality.

Rajeswari Sunder Rajan argues that sexual violence functions as a mechanism of social control rather than as an aberration. Devi dramatizes this insight by depicting rape as a deliberate strategy employed by the army to discipline dissent. The act is not motivated by desire but by power. Through this representation, the story exposes the political logic underlying gendered violence.

The analogy between Draupadi's polyandrous marriage and Dopdi's gang rape is unsettling yet revealing. Spivak notes that Draupadi's plural husbands render her "within a patriarchal and patronomic context… exceptional, indeed, singular." Her singularity is defined by male privilege; she exists as a symbol of masculine glory. Devi interrogates this symbolism by presenting Dopdi as a woman who refuses to serve any patriarchal order. Whereas the epic heroine's identity is

shaped by her relationship to male heroes, the modern protagonist defines herself through resistance to male authority.

Language, Naming, and Identity Politics

The transformation of *Draupadi* into *Dopdi* is not merely phonetic but ideological. Naming functions as a political act that reflects shifts in cultural location and social hierarchy. The Sanskritized name of the epic signifies aristocratic prestige and mythic grandeur, while its tribal variant signals marginalization within contemporary society. Linguistic distortion here mirrors historical processes through which indigenous identities have been mispronounced, mistranscribed, or erased by dominant institutions.

In colonial and postcolonial contexts, naming often becomes a site of contestation. Administrators assign names to classify populations; missionaries rename converts; bureaucracies standardize spellings. Such practices impose external authority over personal identity. Dopdi's insistence on her name therefore constitutes an assertion of subjecthood. By reclaiming the name that official records attempt to fix or distort, she resists incorporation into the state's classificatory system. Her identity cannot be reduced to a file, a warrant, or a statistic.

Body, Violence, and the Semiotics of Resistance

The central episode of the story—the assault on Dopdi—constitutes the narrative's ethical and political core. In patriarchal societies, rape is often associated with shame, dishonour, and social exclusion. Victims are expected to conceal the violence in order to preserve respectability. Devi overturns this logic. After enduring repeated assaults, Dopdi refuses to clothe herself. She tears off the cloth offered to her and confronts Senanayak naked, declaring:

"What's the use of clothes? You can strip me, but how can you clothe me again? Are you a man? … There is not a man here that I should be ashamed of" (Devi).

This declaration transforms nakedness from a sign of vulnerability into a sign of defiance. Instead of internalizing shame, Dopdi projects it outward onto her oppressors. Sunder Rajan describes her act as "a deliberate refusal of a shared sign system… to create the disconcerting counter-effect of shame, confusion and terror in the enemy." In semiotic terms, she disrupts the cultural code that equates nudity with humiliation. By refusing to participate in this code, she renders it meaningless. Her body thus becomes a text that rewrites itself. The marks of violence, intended to signify domination, become symbols of resistance. Spivak's description of Dopdi as a "super-object—an unarmed target" captures this paradox. She is simultaneously objectified and empowered. The very condition that marks her as victim becomes the source of her authority.

This reversal has profound implications for feminist theory. It challenges the assumption that agency must be expressed through conventional forms of autonomy or speech. Dopdi's agency lies in her refusal—her refusal to dress, to obey, to feel ashamed. Resistance here is negative rather than affirmative; it operates through negation. Yet this negation destabilizes the entire structure of power confronting her.

State Power and Institutional Rationality

Senanayak represents a different form of power from the brutal soldiers who assault Dopdi. He is educated, strategic, and intellectually curious about insurgency movements. He studies revolutionary texts in order to understand his enemies. His rationality gives him confidence in his authority. However, this rationality also exposes the limitations of bureaucratic power. When confronted with Dopdi's naked defiance, he experiences a crisis of comprehension. The event does not fit within his analytical framework.

The story suggests that institutional violence depends upon symbolic order—the assumption that authority will be recognized and obeyed. Dopdi's refusal disrupts this order. She does not attack Senanayak physically; instead, she confronts him with a spectacle he cannot interpret. Her nakedness becomes a mirror reflecting his own vulnerability. In that moment, the hierarchical relation between commander and prisoner collapses. The state's authority, revealed as contingent rather than absolute, loses its psychological hold.

This scene demonstrates that power is not merely coercive but also symbolic. Institutions rely on rituals, uniforms, and language to maintain legitimacy. When these symbols fail, authority becomes fragile. Devi thereby exposes the performative nature of political power: it exists only so long as it is believed.

Gender, Class, and Subaltern Assertion

A major contrast between Dopdi and many heroines of canonical literature lies in social location. She does not belong to a refined or privileged milieu; she is a tribal labourer fighting for survival. Her marginal status intensifies her vulnerability but also sharpens her resistance. Unlike bourgeois protagonists whose conflicts are psychological, Dopdi's struggle is material and collective. She fights not only for herself but for her community.

Her gender, however, subjects her to a specific form of violence. Patriarchal authority often asserts dominance by violating women's bodies, assuming that such violation will produce submission. Devi subverts this assumption. Dopdi's defiance demonstrates that bodily violation does not necessarily entail psychological defeat. Her statement—implicitly asserting that honour does not reside in physical purity—challenges a deeply ingrained cultural ideology. By rejecting this ideology, she undermines the moral foundation of patriarchal power.

The narrative also highlights intersections of gender with class and ethnicity. Tribal women occupy a doubly marginalized position: they are oppressed both as women and as members of economically exploited communities. Devi's portrayal insists that feminist analysis must account for these intersections. A feminism that ignores class and caste hierarchies would fail to grasp the full significance of Dopdi's rebellion.

Narrative Technique and Aesthetic Strategy

Devi's stylistic choices reinforce the story's political themes. The narrative voice is terse, almost reportorial, avoiding lyrical embellishment. This austerity intensifies the impact of violent scenes by presenting them without sentimental mediation. The language often shifts between official terminology and colloquial speech, juxtaposing bureaucratic discourse with subaltern idiom. Such shifts reveal the gulf between institutional authority and lived experience.

The structure of the story also contributes to its effect. The first sections focus on military pursuit, establishing a tone of procedural efficiency. Only gradually does the narrative reveal Dopdi's perspective. This delayed focalization mirrors the process by which marginalized voices struggle to emerge within dominant narratives. When Dopdi finally confronts Senanayak, the story reaches a climax not of action but of recognition. The turning point is psychological rather than physical: the commander realizes that his power cannot control her meaning.

Devi's refusal of closure is equally significant. The story ends without resolving Dopdi's fate. This open ending resists the consolatory logic of conventional narratives, which often restore order after disruption. Instead, the text leaves readers with an unresolved tension that demands ethical reflection.

Reversal of Power and the Politics of Spectatorship

In the climactic confrontation, Dopdi presents her mutilated body before Senanayak as "the object of your search." The phrase is ironic: she acknowledges her objectification while simultaneously exposing it. By naming herself as object, she reveals the violence inherent in the gaze that seeks to possess her. When she challenges him—"What more can you do? Come on, counter me!"—she reverses the direction of scrutiny. The spectator becomes the spectacle.

This reversal implicates readers as well. The narrative forces its audience to confront the discomfort of witnessing violence. It refuses voyeuristic pleasure by denying aesthetic distance. Instead, readers are compelled to recognize their own position within structures of power. The story thus functions as an ethical provocation, demanding not passive sympathy but critical awareness.

Conclusion

Mahasweta Devi's "Droupadi" offers one of the most powerful portrayals of resistance in modern Indian literature. Through the figure of Dopdi Mehjen, the narrative reimagines myth, challenges patriarchal ideology, and exposes the violence embedded in state authority. By transforming the violated body into a site of defiance, Devi overturns conventional associations of shame and honour. Dopdi's refusal to clothe herself becomes an act of radical self-definition that destabilizes the symbolic foundations of power.

The story's significance extends beyond its immediate context. It compels readers to reconsider assumptions about agency, victimhood, and resistance. Rather than presenting liberation as a gift bestowed by external forces, Devi depicts it as a gesture enacted from within conditions of extreme vulnerability. Dopdi does not escape oppression; she confronts it. In doing so, she becomes the active maker of meaning rather than the passive recipient of violence.

Ultimately, Devi constructs a revolutionary female subject whose rebellion is neither mythic nor miraculous but material, embodied, and historically grounded. Dopdi's defiance demonstrates that even in situations of absolute domination, the possibility of resistance persists. Her naked stance before power remains one of the most arresting images in contemporary literature—a testament to the enduring capacity of the human spirit to challenge structures of injustice.

Works Cited

Dodiya, Jaydipsinh K., and K. V. Surendran, editors. *Indian Women Writers: Critical Perspectives.* Sarup and Sons, 2007.

Devi, Mahasweta. "Droupadi." Translated by Gayatri Chakravorty Spivak, *In Other Worlds: Essays in Cultural Politics*, Routledge, 1988.

Rajan, Rajeswari Sunder. *Signposts: Gender Issues in Post-Independence India***.** Women Publishing House, 1999.

Satyanarayana, E. *The Plays of Mahasweta Debi.* Prestige Books, 2000.

Sen, Nivedita, and Nikhil Yadav, editors. *Mahasweta Devi: An Anthology of Recent Criticism.* Pencraft International, 2008.

Spivak, Gayatri Chakravorty. *In Other Worlds: Essays in Cultural Politics.* Routledge, 1988.

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ अभिषेक अग्निहोत्री,
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
म.ब. सि. पी.जी. कॉलेज, गंगापुर वाराणसी

सारांश

भारतीय ज्ञान परंपरा विश्व की प्राचीनतम, समृद्धतम तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सुव्यवस्थित परंपराओं में से एक है। यह परंपरा केवल धार्मिक अथवा आध्यात्मिक चिंतन तक सीमित न रहकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र – शिक्षा, चिकित्सा, गणित, तर्क, नीति, समाज, राजनीति तथा पर्यावरण से गहराई से जुड़ी हुई है। वेद, उपनिषद, पुराण, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद, योग, तर्कशास्त्र, ज्योतिष और वास्तु जैसे विविध ज्ञान–क्षेत्र इस परंपरा के सशक्त स्तंभ हैं। आधुनिक युग में बढ़ते मानसिक तनाव, पर्यावरण संकट, नैतिक मूल्यों के ह्रास तथा असंतुलित विकास की समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय ज्ञान परंपरा अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रही है। यह शोध–पत्र भारतीय ज्ञान–परंपरा के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन करते हुए उनकी वर्तमान समय में प्रासंगिकता को विश्लेषित करता है तथा यह प्रतिपादित करता है कि भारतीय ज्ञान–दृष्टि आधुनिक विश्व के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

मुख्य शब्द (Keywords)- भारतीय ज्ञान परंपरा, वेद–दर्शन, आयुर्वेद, योग, तर्कशास्त्र, पर्यावरण दर्शन, नैतिक मूल्य, आधुनिक प्रासंगिकता, शिक्षा, अनुसंधान।

भारत विश्व की उन प्राचीन सभ्यताओं में अग्रणी है जहाँ ज्ञान को जीवन–निर्माण का आधार माना गया। भारतीय मनीषियों ने ज्ञान को केवल सूचनाओं का संग्रह न मानकर आत्म–विकास और समाज–कल्याण का साधन स्वीकार किया। उपनिषदों में कहा गया है – "सा विद्या या विमुक्तये।" अर्थात वही विद्या सार्थक है जो मनुष्य को बंधनों से मुक्त कर उन्नति के मार्ग पर ले जाए। भारतीय ज्ञान परंपरा का उद्देश्य भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच संतुलन स्थापित करना रहा है। भारतीय ज्ञान परंपरा लिखित और मौखिक दोनों रूपों में विकसित हुई। गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से यह पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रही। वेदों से आरंभ होकर यह परंपरा उपनिषदों, स्मृतियों, दर्शन–ग्रंथों तथा लोक–परंपराओं के माध्यम से निरंतर आगे बढ़ती रही। यह परंपरा अनुभव, तर्क और परीक्षण पर आधारित रही, इसलिए इसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत सुदृढ़ माना जा सकता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा का स्वरूप

भारतीय ज्ञान परंपरा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –1. ज्ञान का अनुभव–आधारित होना 2. तर्क और विवेक को महत्त्व देना 3. प्रकृति और मनुष्य के मध्य सामंजस्य 4. नैतिकता और धर्म पर आधारित जीवन–दृष्टि 5. समाजोपयोगी एवं व्यावहारिक ज्ञान। भारतीय चिंतन में ज्ञान को पवित्र और कल्याणकारी माना गया है। वेदों में कहा गया है – "विद्यया अमृतमश्नुते।" अर्थात विद्या से ही मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय परंपरा में ज्ञान का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति नहीं बल्कि संपूर्ण मानव–कल्याण था। प्राचीन भारत में शिक्षा की शुरुआत गुरु-शिष्य परंपरा से हुई थी, जहाँ गुरुकुल व्यवस्था का व्यापक प्रसार था। इस व्यवस्था में शिक्षा केवल अकादमिक ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि जीवन की समग्रता को सीखने पर ध्यान केंद्रित किया जाता था। चतुर्वेदों, उपनिषदों, महाभारत और रामायण जैसे ग्रंथों में निहित ज्ञान ने भारतीय समाज को नैतिकता, धर्म और सामाजिक आचरण के मूल्यों की ओर अग्रसर किया। इन ग्रंथों में जीवन के विभिन्न पक्षों का गहन विश्लेषण किया गया है, जिनमें शिक्षा का उद्देश्य रोजगार प्राप्त करना मात्र नहीं था. बल्कि संपूर्ण जीवन की दिशा और दृष्टि तय करना था।

आयुर्वेद की प्रासंगिकता

आयुर्वेद भारतीय ज्ञान परंपरा की अमूल्य देन है। यह केवल चिकित्सा पद्धति नहीं बल्कि संपूर्ण जीवन–विज्ञान है। चरक संहिता में कहा गया है – "धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।" आज के युग में जीवनशैली से जुड़े रोग तेजी से बढ़ रहे हैं। ऐसे में आयुर्वेदिक आहार–विहार, दिनचर्या, ऋतुचर्या और प्राकृतिक औषधियाँ अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रही हैं। विश्व–भर में आयुर्वेद की बढ़ती लोकप्रियता इसकी आधुनिक प्रासंगिकता को प्रमाणित करती है। "आयुर्वेद, आयुष + वेद शब्दों के समन्वय से मिलकर बना है। आयुष का अर्थ, जीवन तथा वेद का अर्थ, ज्ञान विज्ञान है। अतः जीवन से संबंधित विज्ञान आयुर्वेद है।" भारतीय चिकित्सा परंपरा का मूल विचार इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है -

सर्वे भवंतु सुखिनः, सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मां कश्चिद दुःख भाग्य भवेत ।।

अर्थात, सभी सुख से पूर्ण हो। सबको सुंदर स्वास्थ्य मिले। परस्पर सब मिलकर एक दूसरे के सुख का विचार करें। दुख किसी को ना मिले। स्वास्थ्य शरीर के साथ ही मानसिक और सामाजिक कल्याण की स्थिति है। भारत में आयुर्वेद को स्वास्थ्य का आधार स्तंभ माना गया है। आयुर्वेद (भारतीय चिकित्सा प्रणाली) जो मूलतः पांच तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) तथा तीन दोषों (वात, पित्त, तथा कफ) के संतुलन पर आधारित है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ आहार और स्वस्थ जीवन शैली द्वारा स्वस्थ व्यक्ति की रक्षा करना, जड़ी-बूटियों और प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से रोगों का उपचार करना है। आयुर्वेद आहार-विहार (जीवन शैली), योग और ध्यान को महत्वपूर्ण मानता है। आयुर्वेद केवल रोगों का उपचार नहीं करता, अपितु मनुष्य को पूर्णतः स्वस्थ और सुखी बनाने का ध्येय रखता है।

योग की वैश्विक उपयोगिता

योग भारतीय परंपरा की वह विधा है जिसे आज संपूर्ण विश्व ने स्वीकार किया है। पतंजलि के अनुसार –"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" योग शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक संतुलन भी प्रदान करता है। वर्तमान समय में तनाव, अवसाद और चिंता जैसी समस्याओं के समाधान हेतु योग एक प्रभावी माध्यम बन चुका है। सूर्य नमस्कार के संदर्भ में बात करें तो दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सूर्य को प्रजाओं का प्राण तथा चर और अचर जगत की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसीलिए श्रुति में भी कहा गया है-

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः ।
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य ।।

तात्पर्य यह है कि सूर्य चराचर विश्व की आत्मा है। आकाश पृथ्वी तथा अंतरिक्ष लोकों को अपने प्रकाश से व्याप्त किए हुए है। सूर्य रूपी प्रत्यक्ष देवता को धारण और ज्ञान का विषय बनाने से स्वास्थ्य एवं जीवनी शक्ति का नियमन होता है, जो कि सृष्टि के नियम के अनुकूल एवं आरोग्य प्रदायक स्वाभाविक रूप से ही है। सूर्य को आरोग्य का अध्यक्षता देव मानकर कहा जाता है- 'आरोग्यं भास्करादिच्छेद ।' भारतीय परंपरा में प्रातः स्नान के उपरांत सूर्य को अर्घ्य देना प्राचीन काल से ही प्रचलित है। सूर्य षष्ठी या छठ पर्व भारतीय संस्कृति का विशेष त्यौहार एवं पर्व है। इस पर्व पर अगणित लोगों के द्वारा सूर्यदेव की उपासना की जाती है। प्रातः काल सूर्य नमस्कार जो कि सूर्य के द्वादश नाम के उच्चारण एवं मनन के रूप में द्वादश आसनों का वह अभ्यासक्रम है, जहाँ योगासनों की आवश्यकता चारों शारीरिक स्थितियाँ क्रमागत रूप से घटित होती हैं। इस प्रकार संतुलित समायोजित क्रमिक योगाभ्यास होता है, जिससे रक्त परिसंचरण में सुधार से लेकर रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास भी होता है। भारतीय लोक परंपरा में एवं हमारी सामान्य घरेलू दिनचर्या में भी रविवार के व्रत धारण का विधान है। रविवार के दिन लवण रहित भोजन व्रतचर्या का आवश्यक अंग बताया जाता है। लवण रहित भोजन अनेकानेक रोगों के निवारण के लिए अपरिहार्य तत्व बताया गया है। भारतीय ज्ञान परंपरा की इस प्रयोगात्मक पद्धति का आचरण जन-जन में हम

आज भी पाते हैं। शारीरिक रोगों की निवारण एवं शारीरिक मालीनता को निराकृत करने में व्यायाम का महत्व सर्वविदित है। संतुलित समायोजित और क्रमिक योगाभ्यास से रक्त परिसंचरण परिष्कृत होता है और रोग प्रतिरोधक क्षमता का भी विकास होता है।

गणित एवं विज्ञान में योगदान

भारतीय गणितज्ञों ने शून्य, दशमलव प्रणाली, त्रिकोणमिति और खगोलविज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया। आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्त जैसे विद्वानों की खोजें आधुनिक विज्ञान की आधारशिला बनीं। यह सिद्ध करता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल आध्यात्मिक नहीं बल्कि पूर्णतः वैज्ञानिक भी रही है। आधुनिक विज्ञान के तकनीकी कौशल का प्रायःऐसा कोई पक्ष नहीं है, जिसका प्रतिरूप भारतीय प्राच्यविद्या में न मिलता हो। विविध कलाओं के संसार से संपूर्ण पृथ्वी को आलोकित करने वाला भारतीय ज्ञान विज्ञान, समस्त विविध तकनीकी कौशल, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान शास्त्र, जंतु विज्ञान, प्राद्यौगिकी, कृषि, गणित शास्त्र वृष्टि विज्ञान, पर्यावरण एवं भूविज्ञान के साथ यंत्रोपकरण विज्ञान, विमानशास्त्र एवं शस्त्रास्त्रों के निर्माण का स्रोत बना रहा।

तर्कशास्त्र और अनुसंधान परंपरा

भारतीय न्याय–दर्शन में प्रमाण, तर्क और परीक्षण की सुव्यवस्थित पद्धति विकसित हुई। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" – यह सूत्र आधुनिक शोध–पद्धति का भी आधार माना जा सकता है। आज के अनुसंधान–क्षेत्र में तार्किक विश्लेषण और प्रमाण–आधारित अध्ययन की जो परंपरा है, उसकी जड़ें भारतीय तर्कशास्त्र में निहित हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा में तर्क अनेक रूपों में विवेचित हुआ है। कहीं वह पृथक् प्रमाण है, तो कहीं प्रमाणों का सहायक, कहीं वह अनुमानार्थक है, कहीं मनन अर्थ वाला तो कहीं युक्ति के रूप वाला। इन विविध रूपों के रहते भी तर्क' का बहुमान्य प्रतिष्ठित स्वरूप यही है कि 'तर्क' सम्भावनात्मक ज्ञान है। वह संशय तथा निर्णय का मध्यवर्ती है। वह प्रमाणों से भिन्न है, परन्तु समस्त प्रमाणों का सहायक है। वह व्याप्ति-विषय-परिशोधक है तथा संशयों के उच्छेद द्वारा प्रमाणों का प्रवृत्ति-निमित्तक है। भारतीय ज्ञान परम्परा में तर्क शब्द का विशेष महत्त्व न केवल स्वीकार किया गया है, अपितु उसका प्रायोगिक पक्ष भी दृष्टिगोचर होता है।

पर्यावरण संरक्षण और भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति में प्रकृति को माता के रूप में देखा गया है। अथर्ववेद में कहा गया है – "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।" वर्तमान पर्यावरण संकट के समय यह दृष्टिकोण अत्यंत प्रासंगिक हो गया है। प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का भारतीय सिद्धांत आज के विकास–मॉडल के लिए मार्गदर्शक बन सकता है।

नैतिक मूल्य और सामाजिक जीवन

भारतीय ज्ञान परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष नैतिक जीवन–दर्शन है। सत्य, अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता और परोपकार जैसे मूल्य भारतीय संस्कृति के मूलाधार रहे हैं। आज के युग में बढ़ती सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु इन मूल्यों की पुनर्स्थापना आवश्यक है।

भारतीय ज्ञान परंपरा और आधुनिक शिक्षा

आधुनिक शिक्षा प्रणाली प्रायः भौतिक सफलता पर केंद्रित है, जबकि भारतीय शिक्षा–दर्शन समग्र विकास पर बल देता है। "सा विद्या या विमुक्तये" की भावना आज भी शिक्षा का मार्गदर्शक सिद्धांत बन सकती है। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भारतीय ज्ञान परंपरा को स्थान दिया जाना इसकी प्रासंगिकता का प्रमाण है। आज के समय में जब लोग प्रदूषण और तनाव के कारण बीमार हो रहे हैं, वहां योग और आयुर्वेद जैसे पारंपरिक ज्ञान और प्रथाएँ हमारे लिए बहुत उपयोगी साबित हो रही हैं। ये हमें स्वस्थ और खुशहाल जीवन जीने में मदद करती हैं। भारतीय संस्कृति में प्रकृति और ब्रह्मांड के साथ गहरा संबंध रहा है। योग और आयुर्वेद जैसे पारंपरिक ज्ञान और प्रथाएँ हमें

इस संबंध को गहरा करने में मदद करते हैं। इन प्रथाओं को अपनाकर हम न केवल स्वस्थ रह सकते हैं, बल्कि प्रकृति के साथ भी सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं।

वर्तमान समस्याएँ और समाधान

आज का विश्व अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है – मानसिक तनाव, पर्यावरण असंतुलन, नैतिक पतन और जीवनशैलीजनित रोग। इन सभी का समाधान भारतीय ज्ञान परंपरा में उपलब्ध है। योग मानसिक शांति देता है, आयुर्वेद स्वास्थ्य प्रदान करता है, और भारतीय नैतिक दर्शन समाज को दिशा देता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में मनुष्य को संस्कारवान बनाने पर विशेष बल दिया गया है। मानव सभ्यता को सुसंस्कृत करने के लिए ऐसे दिव्य नियम और सिद्धांत बनाए गए हैं, जिस पर हम भारतीयों को न केवल गर्व होना चाहिए, अपितु संपूर्ण विश्व में अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार की कोई शिक्षा व्यवस्था संज्ञान में नहीं आयी है, जिसमें संस्कारों पर बल दिया गया हो। भारतीय ज्ञान परंपरा में शिशु के गर्भ में आने के पूर्व ही गर्भाधान संस्कार से प्रारंभ हुई यात्रा जातकर्म पुंसवन, विद्याध्ययन इत्यादि संस्कारों से होते हुए मृत्योपरांत अंतिम संस्कार की क्रिया के पश्चात ही समाप्त होती है। इस संपूर्ण यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर मनुष्य को स्वयं को सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित बनाने का अवसर प्राप्त होता रहता है। इन संस्कारों की व्यवस्था ही इसलिए बनाई गई है कि मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन साकार हो सके तथा उसके जीवन में आनंद, उल्लास, उन्नति, समृद्धि, सुख, आत्मिक संतोष एवं वांछित पुण्यों की संतोषजनक प्राप्ति हो सके।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा केवल अतीत का गौरव नहीं बल्कि वर्तमान और भविष्य की आवश्यकता भी है। यह परंपरा मानव–जीवन को संतुलित, नैतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से समृद्ध बनाती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस अमूल्य विरासत को आधुनिक अनुसंधान और शिक्षा के साथ जोड़ें। उपनिषद का वाक्य "तमसो मा ज्योतिर्गमय" आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्राचीन काल में था। भारतीय ज्ञान परंपरा विश्व–कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में पूर्णतः सक्षम है।

संदर्भ–सूची

1. विदुषी आमेटा एवं दयानिधि पाठक, भारतीय ज्ञान परंपरा और शोध, 2022
2. भारत सरकार, भारतीय ज्ञान परंपरा नीति दस्तावेज
3. प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा – एक अध्ययन
4. चरक संहिता
5. पतंजलि योगसूत्र
6. अथर्ववेद – पृथ्वी सूक्त
7. आर्यभटीयम् – आर्यभट्ट
8. गौतम – न्यायसूत्र
9. डॉ. राधाकृष्णन – भारतीय दर्शन
10. स्वामी विवेकानंद – भारतीय संस्कृति और शिक्षा
11. 2020 में, केंद्रीय संस्कृति मंत्री ने नई दिल्ली में भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (आईसीएच) की राष्ट्रीय सूची लॉन्च की।
12. पाठक, आर० (1990). भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, इलाहाबाद: अभिमन्यु प्रकाशन।
13. रूहेला, एस०पी० (2013). शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय आधार. आगरा :अग्रवाल पब्लिकेशन।

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

भारत में प्रजनन–स्वास्थ्य सुविधायें और राज्य की भूमिका

लक्ष्मी उपाध्याय
शोधार्थी,समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश।
प्रो0 तेजबहादुर सिंह
समाजशास्त्र विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ वाराणसी,उत्तर प्रदेश।

सारांश–
प्रजनन स्वास्थ्य का मतलब है शारीरिक मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक रूप से स्वस्थ होना यह प्रजनन प्रणाली से जुड़े सभी मामलों को शामिल करता है प्रजनन स्वास्थ्य सेवाओं में गर्भनिरोधक गर्भावस्था देखभाल और यौन संचारित संक्रमणों से बचाव जैसी सुविधाएं शामिल है। ग्रामीण इलाकों में महिलाएं स्वयं की देखभाल को अनदेखा कर परिवार के सभी लोगों के विषय में सोचती है। इस अवधारणा को समझने से पूर्व प्रजनन– स्वास्थ्य को परिभाषित करना अति आवश्यक है। वर्ष 1994 में मिस्र के काहिरा में जनसंख्या एवं विकास पर हुए अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन् (आईसीपीडी) में सर्वप्रथम प्रजनन स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए कहा गया कि प्रजनन स्वास्थ्य केवल बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति ही नहीं अपितु प्रजनन प्रणाली एवं प्रक्रियाओं से संबंधित शारीरिक मानसिक एवं सामाजिक कल्याण की स्थिति है। महिलाओं की अच्छी स्थिति के लिए राज्य सरकार ने विभिन्न प्रयत्न किए हैं फिर भी उन योजनाओं तक उन महिलाओं की पहुंच कितनी है इसका परीक्षण करना आवश्यक है। अशिक्षा अज्ञानता एवं जागरूकता के अभाव में एक बड़ी संख्या में भारतीय ग्रामीण महिलाएं किसी भी सरकारी सुविधा का लाभ उठाने में असमर्थ है जिसका सीधा असर उनके प्रजनन स्वास्थ्य पर भी पड़ता है।[1]

मुख्य शब्द– प्रजनन स्वास्थ्य सुविधायें।

प्रस्तावना– सृजनात्मक क्षमताओं से परिपूर्ण महिलाएं ईश्वर की अनुपम कृति है। किन्तु हमारे भारतीय समाज में विशेषकर ग्रामीण इलाकों में महिलाएं स्वयं की देखभाल को अनदेखा कर परिवार के सभी लोगों के विषय में सोचती है। इस अवधारणा को समझने से पूर्व प्रजनन– स्वास्थ्य को परिभाषित करना अति आवश्यक है। वर्ष 1994 में मिस्र के काहिरा में जनसंख्या एवं विकास पर हुए अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन् (आईसीपीडी) में सर्वप्रथम प्रजनन स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए कहा गया कि प्रजनन स्वास्थ्य केवल बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति ही नहीं अपितु प्रजनन प्रणाली एवं प्रक्रियाओं से संबंधित शारीरिक मानसिक एवं सामाजिक कल्याण की स्थिति है। वास्तव में प्रजनन स्वास्थ्य एक व्यापक अवधारणा है जिसमें मृत्यु दर रुग्णता एवं प्रजनन प्रणाली से जुड़ी हुई जीवन की गुणवत्ता एवं पुरुषों और महिलाओं के द्वारा सभी उम्र में होने वाली घटनाओं को सम्मिलित किया गया है। विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जिसने प्रजनन स्वास्थ्य के सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 1951 में परिवार नियोजन कार्यक्रम का आरंभ किया था।[2] प्रजनन स्वास्थ्य प्रजनन संबंधी प्रत्येक पहलू में स्वास्थ्य उत्तम रहे इसकी व्याख्या करता है। गर्भधारण करने का भय यौन रोग प्रसवोत्तर स्वास्थ्य गर्भपात प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता का अभाव आदि समस्याओं से मुक्ति ही प्रजनन स्वास्थ्य के सामाजिक लक्ष्य को पूरा करती है। प्रजनन स्वास्थ्य के दायरे में संतोषजनक एवं सुरक्षित यौन जीवन

बनाए रखने के साथ प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी निर्णय लेने की क्षमता भी शामिल है। यह एक सामाजिक मानदंड है।

जनगणना 2011 की रिपोर्ट के अनुसार 68.84 प्रतिशत जनसंख्या भारत के गांवों में निवास करती है, जिसमें 48 प्रतिशत महिलाओं की जनसंख्या है जिनकी साक्षरता का स्तर मात्र 58.75 प्रतिशत है। विडंबना ये कि वे महिलाएं हैं जिनकी सहनशक्ति की क्षमता की कल्पना करना भी आसान नहीं है। अशिक्षा अज्ञानता एवं जागरूकता के अभाव में भाग्य का दोष मानकर महिलाएं आरंभ से अनेक पीड़ाओं को सहती आ रही हैं। पुरुष एवं महिलाएं प्रत्येक रूप से समान है किन्तु प्रजनन की क्षमता केवल स्त्री के पास ही है। उससे संबंधित समस्याओं से उसे शारीरिक मानसिक दोनों तरह से जूझना पड़ता है। इस दर्द को सामान्य दर्द समझकर अवहेलना की जाती है। भारतीय ग्रामीण समाज पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ महिलाओं से संबंधित प्रत्येक अधिकार पुरुषों को प्राप्त हैं। प्रजनन संबंधी समस्याओं का अनुभव केवल महिलाएं ही करती है किन्तु उन्हें प्रजनन संबंधी निर्णय लेने की स्वायत्तता भी नहीं है। मासिक धर्म के समय होने वाली परेशानियां दर्द गर्भधारण से प्रसव तक होने वाली परेशानियां प्रसव के समय जीवन–मृत्यु से जूझना प्रसव के बाद स्वयं स्वस्थ न होते हुए भी नवजात शिशु की मांगों को पूरा करना एवं इसके बाद भी विभिन्न बीमारी रक्तपात कैंसर आदि का होना वास्तव में अत्यधिक संवेदनशील मुद्दा है।[3] ग्रामीण महिलाओं का चिकित्सकीय उपचार एवं भली भांति पोषण की भी उपलब्धता उतनी नही होती है जितना आवश्यक है। प्रसव के दौरान एक बड़ी संख्या में महिलाओं की मृत्यु हो जाती है । एक आकड़े के अनुसार प्रजनन आयु वर्ग की महिलाओं में गर्भावस्था के दौरान पोषण संबंधी एनीमिया की समस्या पाई गई है जो कई बार मातृ मृत्यु के रूप में परिवर्तित होती है। भारत में 20 प्रतिशत मातृ मृत्यु दर का कारण एनीमिया ही है। स्टेट आफ वर्ल्ड पापुलेशन रिपोर्ट (2019) की रिपोर्ट के अनुसार जिसमे 15 से 49 वर्ष आयु वर्ग की महिलाओं को शामिल किया गया। स्थानीय रीति रिवाज सांस्कृतिक एवं आर्थिक अवरोधों के कारण 21.4 करोड़ महिलाएं आसान गर्भनिरोधक उपायों तक पहुंचने में असमर्थ हैं। गर्भावस्था एवं प्रसव के दौरान प्रत्येक दिन 800 महिलाओं की मृत्यु होती है। इस विश्लेषण के अनुसार प्रजनन एवं यौन अधिकारों के अभाव में महिलाओं की शिक्षा एवं उनकी सुरक्षा पर नकारात्मक असर पड़ता है साथ ही कम उम्र में विवाह के कारण उन्हें गर्भावस्था एवं प्रसव के दौरान जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है।[4] दूसरी ओर प्रजनन अधिकारों के अभाव में महिलाएं अपनी इच्छा से भविष्य का निर्माण करने में असमर्थ है। ग्रामीण समाज में महिलाएं अपनी पीड़ा को व्यक्त करने में असहज महसूस करती है इसलिए इसे वे अपना भाग्य मानकर सामान्य तरीके से जीवन व्यतीत करती है। प्रसवोत्तर व गर्भपात के पश्चात उनकी स्थिति अत्यंत खराब हो जाती है जिसके लिए उन्हें अच्छा पोषण देखभाल आदि की आवश्यकता है, किंतु कई मामलों में तो उन पर हिंसा भी की जाती है। महिलाओं की अच्छी स्थिति के लिए राज्य सरकार ने विभिन्न प्रयत्न किए हैं फिर भी उन योजनाओं तक उन महिलाओं की पहुंच कितनी है इसका परीक्षण करना आवश्यक है। अशिक्षा अज्ञानता एवं जागरूकता के अभाव में एक बड़ी संख्या में भारतीय ग्रामीण महिलाएं किसी भी सरकारी सुविधा का लाभ उठाने में असमर्थ है जिसका सीधा असर उनके प्रजनन स्वास्थ्य पर भी पड़ता है।

उदेश्य– अध्ययन करना कि भारत में प्रजनन–स्वास्थ्य सुविधायें और राज्य की भूमिका को प्रभावित करती है।

शोध पद्धति– शोध पत्र में आकड़ों का संग्रह पुस्तक, पत्रिकाओं के अध्ययन से किया गया है।

ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य देखभाल और पोषण पर ध्यान केंद्रित करने वाली कुछ सरकारी पहल–

1– जननी सुरक्षा योजना : गर्भवती महिलाओं के संस्थागत प्रसव को प्रोत्साहन देकर मातृ एवं शिशु मृत्युदर को कम करना इसका लक्ष्य है। यह एक सौ प्रतिशत केंद्र प्रायोजित योजना है। यह योजना गर्भावस्था के दौरान प्रसूति–पूर्व देखभाल प्रसव के दौरान संस्थागत देखभाल तथा प्रसूति उपरांत देखभाल के साथ–साथ नगद सहायता भी प्रदान करती है।

2– पारिवारिक स्तर पर पोषण सुरक्षा : ग्रामीण परिवार विशेष रुप से निर्धनतम क्षेत्र में कुपोषण के कारण विभिन्न रोगों जैसे एनीमिया बच्चे के जन्म में समस्या आदि से पीड़ित है । इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में वंचित और गरीब लोगों के बीच पूरक खाद्यान उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए प्रारम्भ कि गयी।

3– मातृत्वकालीन लाभ : यह अवकाश अविवाहित–विवाहित स्त्रियों पर लागू होता है–

1. गर्भवती स्त्रियों के लिए 180 दिन का अवकाश। यह उन सभी कर्मियों पर लागू होता है जिनके दो से कम बच्चे जीवित है।
2. गर्भस्राव गर्भपात पूरे सेवाकाल में कुल 45 दिन का अवकाश। इस अवकाश का जीवित बच्चों की संख्या से कोई संबंध नहीं है। अवकाश की अर्जी अधिकृत चिकित्सक के प्रमाण–पत्र के साथ दी जानी है।
3. यह छुट्टी अवकाश खाते में नहीं चढ़ायी जायेगी।
4. इस दौरान पूरा वेतन दिया जायेगा।
5. यह छुट्टी किसी भी अन्य छुट्टी के साथ ली जा सकती है।
6. किसी भी प्रकार की छुट्टी (जिसमें 60 दिन तक की कम्यूटिड लीव और जलीव नॉट ड्यू शामिल है) प्रेगनेंसी लीव के बाद बिना मेडिकल सर्टिफिकेट के एक साल तक की ली जा सकती है।
7. वेतन वृद्धि के लिए इस अवधि को जोड़ा जायेगा।

भारत सरकार ने राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम (नेशनल न्यूट्रिशन प्रोग्राम) के अंतर्गत देश के बच्चों, गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं के लिए पोषण संबंधी परिणामों में और अधिक सुधार लाने के लिए केंद्रीय वित्त मंत्री श्रीमती निर्मला सीतारमन ने वर्ष 2020–21 और 2021–22 के लिए पोषण सामग्री परिणाम को और मजबूत करने के लिए पोषण कार्यक्रम और पोषण अभियान को मिलाकर एक नई योजना पोषण मिशन 2.0 शुरू की है जिसके लिए क्रमशः 35600 करोड़ और आंगनबाड़ी और पोषण मिशन 2.0 को मिलाकर 2021–22 में 20,105 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए। पोषण मिशन 2.0 के अंतर्गत आंगनबाड़ी केंद्र प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना लाभार्थियों को 6000 रुपये तक की आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है आशा, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र सामुदायिक केंद्रों और स्वयंसहायता समूहों के माध्यम से कुपोषण की समस्या से निपटना।

अन्य प्रमुख कार्यक्रम –

सरकारी योजनाएं एवं सुविधाएं : कुपोषण मुक्त भारत के लिए सरकार की तमाम कोशिशें जारी हैं। वर्तमान सरकार ने कुपोषण मुक्त भारत योजना का नाम बदलकर राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम (नेशनल न्यूट्रिशन प्रोग्राम) रखा है, जिसके अंतर्गत देश के बच्चों, गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं के लिए पोषण संबंधी परिणामों में और अधिक सुधार लाना है। केंद्रीय वित्त मंत्री श्रीमती निर्मला सीतारमन ने वर्ष 2020–21 और 2021–22 के लिए पोषण सामग्री परिणाम को और मजबूत करने के लिए पोषण कार्यक्रम और पोषण अभियान को मिलाकर एक नई योजना पोषण मिशन 2.0 शुरू की है, जिसके लिए क्रमशः 35,600 करोड़ और आंगनबाड़ी और पोषण मिशन 2.0 को मिलाकर 2021–22 में 20,105 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए। पोषण मिशन 2.0 के अंतर्गत (1) आंगनबाड़ी केंद्र (2) प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना (लाभार्थियों को 6000 रुपये तक

की आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है (3) आशा, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (4) सामुदायिक केंद्रों और (5) स्वयंसहायता समूहों के माध्यम से कुपोषण की समस्या से निपटना।[5]

पोषण कार्यक्रमों पर नीति आयोग की रिपोर्ट : नीति आयोग द्वारा जारी स्ट्रैटिजी फॉर न्यू इंडिया/75 रिपोर्ट 2019 के अनुसार भारत के मुख्य पोषण कार्यक्रमों और समेकित बाल विकास सेवाओं का बच्चे के जीवन के पहले 1000 दिनों पर अपर्याप्त ध्यान रहता है। इस रिपोर्ट में तर्क दिया गया है कि कार्यक्रम के जरिए मुख्य रूप से 3 से 6 साल के बच्चों को सेवाएं दी गई, जबकि शिशु के संपूर्ण विकास को सुनिश्चित करने के लिए 2 से 3 साल से कम उम्र के बच्चों को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

वैश्विक पोषण लक्ष्यों के अनुसार भोजन के पर्यावरणीय प्रभाव और सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी के समाधानों को प्रभावी बनाया जाना आवश्यक है। साथ ही, शिशु से किशोरावस्था तक के पोषण संबंधी आकलन स्पष्ट होने चाहिए, जिसमें हर आयु वर्ग के लिए पोषण मानदंडों के पालन के लिए, नीति के अनुसार अभिभावकों को प्रेरित करना चाहिए। आज आवश्यक है कि शिशु (उम्र एक महीना से एक वर्ष), नन्हा बच्चा (उम्र 1–3 वर्ष), प्री–स्कूली बच्चा (उम्र 4–6 वर्ष), स्कूली बच्चा (उम्र 6–13 वर्ष), किशोर–किशोरी (उम्र 13–20 वर्ष), सभी आयु वर्गों के लिए पोषण की प्राथमिकताएं तय कर उनको अमल में लाया जाए।

दुनिया में कुल 82.8 करोड़ लोग कुपोषण का सामना कर रहे हैं, जिनमें से 22.4 करोड़ लोग सिर्फ भारत से ही हैं। हालांकि भारत में चाइल्ड स्टंटिंग और बाल मृत्युदर में सुधार हुआ है। वर्ष 2014 से वर्ष 2022 के बीच बाल स्टंटिंग (उम्र के अनुसार कम ऊँचाई) 38.7: से घटकर 35.5: हो गई है। इसी तुलनात्मक अवधि में बाल मृत्युदर (पाँच वर्ष से कम आयु) 4.6: से घटकर 3.3: हो गई है।

1–आंगनबाड़ी सेवाओं के तहत कोविड–19 महामारी के बाद से, लगभग 7.71 करोड़ बच्चों और 1.78 करोड़ गर्भवती महिलाओं एवं स्तनपान कराने वाली माताओं को पूरक पोषण प्रदान किया गया। 5.3 मिलियन मीट्रिक टन खाद्यान्न (जिसमें 2.5 मिलियन मीट्रिक टन गेहूं, 1.1 मिलियन मीट्रिक टन चावल, 1.6 मिलियन मीट्रिक टन फोर्टिफाइड चावल और 12,037 मीट्रिक टन ज्वार और बाजरा शामिल है) की आपूर्ति की गई। भारत में 14 लाख आंगनबाड़ियों में आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं द्वारा पूरक पोषाहार का वितरण किया गया। मध्याह्न भोजन योजना, एकीकृत बाल विकास योजना (आईसीडीएस) और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) द्वारा भी पोषण की आवश्यकताओं को पूरा किया जा रहा है।

2–आहार संबंधी दिशा–निर्देश भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के राष्ट्रीय पोषण संस्थान (एनआईएन) द्वारा भारतीयों के लिए आहार संबंधी संशोधित दिशा–निर्देश जल्द ही जारी किए जाएंगे। एनआईएन के अनुसार दिशा–निर्देशों में खाद्य सामग्रियों के ग्यारह समूह बनाए गए हैं जो शाकाहारी और मांसाहारी लोगों के लिए हैं। ये दिशा–निर्देश छह माह के बच्चे से लेकर बुजुर्ग व्यक्तियों तक के लिए होंगे। प्रसंस्कृत और ज्यादा वसा वाले भोज्य पदार्थों को भी आहार संबंधी दिशा–निर्देशों में शामिल किया गया है।

एनआईएन के वर्तमान दिशानिर्देश उन कैलोरी, पोषण मूल्यों और सूक्ष्म पोषक तत्वों को निर्दिष्ट करते हैं जिनका सेवन महिलाओं, पुरुषों, बच्चों और गर्भवती महिलाओं को उनकी उम्र और स्थिति के अनुसार करना चाहिए।

निष्कर्ष–

भारत जैसे विकासशील देशों में स्वास्थ्य प्रवर्तकों ने यौन और प्रजनन अधिकारों पर जनता से जुड़ी स्वास्थ्य संबंधी वैश्विक पोषण लक्ष्यों के अनुसार भोजन के पर्यावरणीय प्रभाव और सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी के समाधानों को प्रभावी बनाया जाना आवश्यक है। स्वास्थ्य सेवाओं के तहत कोविड–19 महामारी के बाद से,

लगभग 7.71 करोड़ बच्चों और 1.78 करोड़ गर्भवती महिलाओं एवं स्तनपान कराने वाली माताओं को पूरक पोषण प्रदान किया गया। 5.3 मिलियन मीट्रिक टन खाद्यान्न (जिसमें 2.5 मिलियन मीट्रिक टन गेहूं, 1.1 मिलियन मीट्रिक टन चावल, 1.6 मिलियन मीट्रिक टन फोर्टिफाइड चावल और 12,037 मीट्रिक टन ज्वार और बाजरा शामिल है) की आपूर्ति की गई। भारत में 14 लाख आंगनबाड़ियों में आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं द्वारा पूरक पोषाहार का वितरण किया गया। मध्याह्न भोजन योजना, एकीकृत बाल विकास योजना (आईसीडीएस) और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) द्वारा भी पोषण की आवश्यकताओं को पूरा किया जा रहा है। एनआईएन के वर्तमान दिशानिर्देश उन कैलोरी, पोषण मूल्यों और सूक्ष्म पोषक तत्वों को निर्दिष्ट करते हैं जिनका सेवन महिलाओं, पुरुषों, बच्चों और गर्भवती महिलाओं को उनकी उम्र और स्थिति के अनुसार करना चाहिए। वैश्विक, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर महिला स्वास्थ्य कार्यक्रम सूचना और संचार तकनीकों से बहुत लाभान्वित होते हैं। भारत जैसे विकासशील देशों में स्वास्थ्य प्रवर्तकों ने यौन और प्रजनन अधिकारों पर जनता से जुड़ी स्वास्थ्य संबंधी जानकारी प्रसारित करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का इस्तेमाल किया है। आईसीटी सामुदायिक सूचना केन्द्रों को महिलाओं को स्थानीय रूप से अनुकूलित स्वास्थ्य जानकारी प्रदान करने में सक्षम बनाती है।

सन्दर्भ सूची–

1. प्रतियोगिता दर्पण मार्च 2021 पृष्ठ संख्या 159।[1]
2. सिविल सेवा मुख्य परीक्षा हेतु आधुनिक निबंध प्रयाग पब्लिकेशंस जार्जटाउन इलाहाबाद पृष्ठ संख्या 40–42।[2]
3. बघेल डी.एस.भारतीय समाज कैलाश पुस्तक सदन भोपाल पृष्ठ संख्या 132–137।[3]
4. निबंध बोध 2016 स्पेक्ट्रम बुक्स प्राइवेट लिमिटेड जनकपुरी नई दिल्ली पृष्ठ संख्या 140–143।[4]
5. प्रतियोगिता दर्पण मार्च 2018 पृष्ठ संख्या 156।[5]

Social Justice in the Global South: Beyond Western Liberal Frameworks

Dr. Anu Singh,
Assistant Professor, Department of Political Science,
Vasant Kanya Mahavidyalaya,Varanasi
Miss Praveera Sinha,
Guest Faculty, Department of Political Science,
Vasant Kanya Mahavidyalaya, Varanasi

Abstract

Social justice remains a central normative concern in the Global South, where societies continue to experience deep-seated poverty, inequality, and social exclusion shaped by colonial legacies, structural hierarchies, and uneven development. Despite these realities, debates on social justice have largely been dominated by Western liberal frameworks that emphasize individual rights, formal equality, and institutional fairness. This paper argues that such approaches are normatively limited in addressing the complex and multidimensional injustices prevalent in the Global South. Western liberal theories often assume social homogeneity and stable institutional contexts, thereby overlooking historical injustices, power relations, and the lived experiences of marginalized groups. Adopting a normative and theoretical approach, the paper critically examines the inadequacy of these frameworks and highlights the need for alternative conceptions of justice that are context-sensitive and human-centered. It contends that social justice in the Global South must move beyond abstract universalism toward frameworks that prioritize substantive equality, human dignity, and real freedoms. By engaging with alternative perspectives such as capability-based and post-colonial approaches, the paper contributes to rethinking social justice in a manner that is more responsive to the specific conditions and challenges of the Global South.

Introduction

A. Contextual Background

Questions of social justice have assumed renewed urgency in the contemporary Global South, where persistent poverty, widening inequalities, and deep forms of social exclusion continue to shape everyday life. Despite decades of development efforts and democratic transitions, large sections of the population in Asia, Africa, and Latin America remain deprived of basic capabilities such as education, health, dignity, and meaningful political participation. Inequality in the Global South is not merely economic; it is multidimensional and deeply embedded in social structures that systematically disadvantage particular groups. Poverty often coexists with extreme wealth, informal labour dominates economic life, and access to state resources remains uneven and mediated by power relations.

A defining feature of injustice in the Global South is its historical depth. Colonial rule fundamentally reshaped economic structures, social hierarchies, and political institutions, creating patterns of extraction, dependency, and exclusion that continue to influence post-colonial societies. Colonial administrations privileged certain groups while marginalizing others, institutionalized racial and ethnic hierarchies, and disrupted indigenous systems of social organization. The post-colonial state inherited these unequal structures, often reproducing them in new forms. As a result, contemporary injustice cannot be understood without reference to these historical legacies, which continue to constrain social mobility and shape access to opportunities.

In addition to colonial legacies, structural forms of injustice such as caste, race, ethnicity, and gender play a decisive role in producing and sustaining inequality in the Global South. In societies like India, caste-based hierarchies generate entrenched patterns of exclusion that cannot be reduced to income disparities alone. Similarly, racialized inequalities in parts of Africa and Latin America, and pervasive gender discrimination across the Global South, reveal how social identities intersect with economic deprivation. Women, lower castes, ethnic minorities, and indigenous communities often experience injustice simultaneously in economic, social, and political domains. These intersecting structures of disadvantage highlight the inadequacy of narrow, income-based or purely institutional understandings of justice and call for a broader normative framework that can capture lived experiences of deprivation and exclusion.

B. Dominance of Western Liberal Frameworks

Despite the distinct realities of the Global South, debates on social justice have largely been shaped by Western liberal political philosophy. Liberal theories of justice, developed primarily in the context of relatively affluent and stable Western societies, have come to dominate both academic discourse and policy thinking. Among these, the work of John Rawls occupies a central position. Rawls' conception of justice as fairness, with its emphasis on equal basic liberties, fair equality of opportunity, and the difference principle, represents one of the most influential normative frameworks of the twentieth century. His theory seeks to design just institutions by imagining principles that free and equal individuals would choose under fair conditions.

Closely associated with Rawls' work is the broader tradition of liberal egalitarianism, which emphasizes moral equality, individual rights, and the fair distribution of social and economic goods. Liberal egalitarian theories typically focus on creating impartial institutions that guarantee equal rights and redistribute resources to mitigate inequality. Justice, within this framework, is primarily concerned with ensuring fairness in social arrangements rather than transforming underlying social relations. The emphasis on neutrality, rule of law, and institutional design has made liberal egalitarianism particularly appealing in constitutional democracies and international development discourse.

Another defining feature of Western liberal frameworks is their strong commitment to rights-based individualism. Individuals are treated as the primary units of moral concern, and justice is understood in terms of protecting individual rights and freedoms. While this approach has been crucial in challenging authoritarianism and securing civil and political liberties, it often abstracts

individuals from their social contexts. As a result, the structural conditions that shape individuals' capacities to exercise their rights receive limited attention. In the Global South, where social identities and collective histories profoundly influence life chances, this abstraction becomes especially problematic.

C. The Core Problem

The central problem this paper addresses is the limited capacity of Western liberal frameworks to adequately account for social injustice in the Global South. One major limitation lies in their assumption of social homogeneity. Liberal theories generally presuppose a society composed of relatively equal individuals who differ primarily in their talents or preferences. Such assumptions obscure the deep social stratifications that characterize many Global South societies, where individuals are born into hierarchies of caste, race, ethnicity, or gender that systematically shape their opportunities. Treating individuals as formally equal moral agents risks overlooking how social structures predetermine unequal starting points.

A second limitation is the relative neglect of historical injustice. Western liberal theories are largely forward-looking, focusing on the fairness of present institutions rather than addressing past wrongs. In post-colonial societies, however, historical injustices such as colonial exploitation, slavery, displacement, and cultural domination continue to shape contemporary inequalities. Ignoring these histories leads to an incomplete understanding of justice, as present disadvantages cannot be fully explained without acknowledging their historical roots. A theory of justice that remains silent on historical responsibility struggles to resonate in contexts marked by enduring legacies of domination.

Finally, Western liberal frameworks tend to prioritize institutions over lived experiences of deprivation. By concentrating on constitutional arrangements, legal rights, and distributive rules, they risk equating justice with the existence of formally fair institutions. Yet in the Global South, the presence of democratic constitutions and legal equality often coexists with widespread poverty, informality, and exclusion. Institutions may appear just on paper while failing to translate into meaningful improvements in people's lives. This gap between formal justice and substantive outcomes raises a crucial normative question: can a society be considered just if its institutions are fair but large sections of its population remain unable to live with dignity?

Taken together, these limitations suggest the need to move beyond Western liberal frameworks toward alternative conceptions of social justice that are historically informed, socially grounded, and attentive to real human deprivation. The Global South thus provides not merely a site for applying existing theories but a critical vantage point from which to rethink the very meaning of social justice.

Western Liberal Frameworks of Social Justice

Western liberal frameworks of social justice have long dominated normative political theory and policy discourse. Emerging largely from the historical experiences of Europe and North America, these frameworks seek to articulate principles of justice that ensure fairness, equality, and liberty within a constitutional democratic order. At their core, liberal theories emphasize individual rights,

equality before law, fair distribution of social goods, and the centrality of just institutions. While these ideas have played a crucial role in shaping modern democratic states and welfare regimes, their applicability to the deeply unequal and historically structured societies of the Global South remains contested.

A. Key Features of Western Liberal Frameworks

I) Individual Rights

A defining feature of Western liberal theories of social justice is their strong emphasis on individual rights. Individuals are treated as autonomous moral agents whose rights to liberty, expression, association, and property must be protected against arbitrary power. Justice, within this framework, is fundamentally concerned with safeguarding these rights through constitutional guarantees and legal mechanisms. Rights-based individualism has been historically significant in challenging absolutism, religious authority, and authoritarian rule, and it continues to provide an important moral vocabulary for resisting oppression.

However, liberal theories generally conceptualize individuals in abstract terms, often detached from their social and cultural contexts. Individuals are assumed to possess similar capacities to exercise their rights, provided that formal barriers are removed. This abstraction becomes a defining characteristic of liberal justice and shapes its understanding of equality and fairness.

II) Equality Before Law

Another central feature of Western liberal frameworks is the principle of equality before law. Liberal justice insists that all individuals must be treated equally by legal and political institutions, irrespective of status, class, or identity. The rule of law is seen as a cornerstone of justice, ensuring that laws apply uniformly and that no individual or group enjoys arbitrary privilege.

Equality before law is closely linked to the liberal commitment to impartiality and neutrality. The state is expected to act as a neutral arbiter among competing interests and values, refraining from privileging particular social groups. This formal equality is regarded as essential for maintaining social trust and legitimacy in plural societies. Yet, by focusing on formal legal equality, liberal theories often downplay the substantive inequalities that shape people's real-life opportunities.

III) Fair Distribution

Western liberal theories also emphasize fair distribution of social and economic resources. Justice is not limited to the protection of civil and political rights but extends to questions of economic inequality. Liberal egalitarianism, in particular, seeks to justify redistribution through public policies that mitigate excessive inequality while respecting individual freedom.

The most influential articulation of this distributive concern is found in the work of John Rawls, whose theory of justice as fairness has become a central reference point in debates on social justice. Rawls argues that social and economic inequalities are permissible only if they satisfy specific moral conditions, thereby linking justice to the structure of social institutions rather than to individual virtue or charity.

IV) Institutional Justice

A defining characteristic of Western liberal frameworks is their focus on institutions as the primary subjects of justice. Justice is assessed by examining whether the basic structure of society—its political constitution, legal system, and economic arrangements—is fair. Individuals are expected to comply with just institutions, and outcomes are considered just insofar as they result from fair rules.

This institutional focus reflects the liberal belief that durable justice can only be achieved through stable, rule-based systems rather than through ad hoc moral judgments. As a result, the design and functioning of institutions take precedence over questions of social relations, power dynamics, and lived experiences.

V) Focus on Rawls' Principles and Welfare State Logic

Rawls' theory of justice as fairness provides the most systematic expression of Western liberal social justice. Rawls proposes two principles of justice chosen under conditions of fairness: first, the principle of equal basic liberties for all citizens; and second, the principle governing social and economic inequalities. The second principle includes fair equality of opportunity and the difference principle, which allows inequalities only if they benefit the least advantaged members of society.

Rawls' framework has had a profound influence on the normative justification of the welfare state. Welfare policies such as progressive taxation, social security, public education, and healthcare are often defended as institutional mechanisms that realize distributive justice. The welfare state logic assumes that by redistributing resources through fair institutions, societies can correct market-generated inequalities while preserving individual freedom and incentives.

This institutional and redistributive focus has made liberal theories attractive to policymakers and constitutional designers. Justice becomes a matter of crafting appropriate rules and policies rather than addressing deeper social structures.

B. Normative Strengths of Western Liberal Frameworks

Despite their limitations, Western liberal frameworks possess significant normative strengths that explain their enduring influence.

I) Moral Equality

Liberal theories affirm the moral equality of all persons. By insisting that every individual has equal moral worth, they reject inherited privilege, hierarchy, and arbitrary discrimination. This principle has been instrumental in advancing movements for civil rights, political inclusion, and democratic participation.

II) Rule of Law

The emphasis on equality before law and constitutionalism strengthens the rule of law. Liberal justice demands that power be exercised through publicly known and accountable rules, thereby limiting arbitrariness and abuse. In societies emerging from authoritarianism, this commitment provides a powerful normative foundation for democratic governance.

III) Institutional Fairness

By focusing on institutions, liberal frameworks offer a systematic and predictable approach to justice. Institutional fairness allows for long-term planning, stability, and coordination in complex societies. It also provides clear standards for evaluating public policies and holding governments accountable.

IV) Limits of Western Liberal Frameworks

Despite these strengths, Western liberal frameworks face serious limitations when applied to the Global South. One major limitation is their reliance on abstract universalism. Liberal theories often claim universal validity, yet they are grounded in specific historical and social contexts. Their abstract conception of individuals and equality risks overlooking the concrete realities of deeply unequal societies.

A second limitation lies in their neglect of social hierarchies. Formal equality before law does not eliminate hierarchies based on caste, race, ethnicity, or gender. Liberal justice tends to treat such hierarchies as secondary concerns rather than as central sources of injustice that require transformative intervention.

Finally, Western liberal frameworks pay insufficient attention to poverty and power. By prioritizing institutional arrangements, they risk ignoring how power relations shape access to resources and opportunities. In contexts where poverty is multidimensional and structurally embedded, fair institutions alone may be insufficient to ensure substantive justice.

These limitations underscore the need to critically reassess Western liberal frameworks and to explore alternative approaches to social justice that are more responsive to the historical, social, and power-laden realities of the Global South.

Realities of Social Injustice in the Global South

Social injustice in the Global South manifests in forms that are qualitatively different from those typically addressed by Western liberal theories of justice. Unlike societies where inequality is often conceived primarily in distributive terms, injustice in the Global South is deeply structural, historical, and relational. It is produced and sustained by overlapping economic, social, political, and cultural processes that shape people's life chances from birth. Understanding these realities is essential for developing a meaningful conception of social justice that goes beyond abstract principles and formal equality.

a) Multidimensional Poverty

One of the most visible realities of social injustice in the Global South is multidimensional poverty. Poverty here cannot be reduced to low income or lack of material resources alone. It encompasses deprivations in health, education, nutrition, housing, sanitation, dignity, and political voice. Large populations may experience formal political rights while remaining unable to access basic necessities required for a dignified life.

Multidimensional poverty highlights the limitations of narrow economic measures and distributive approaches to justice. Two individuals with similar incomes may experience vastly different levels of well-being depending on their access to public services, social status, or freedom from discrimination. For marginalized communities, poverty is often reinforced by social stigma and

exclusion, making it persistent across generations. Justice, therefore, cannot be assessed solely by income redistribution but must consider how social structures constrain people's real opportunities and freedoms.

b) Informal Economy and Precarious Livelihoods

Another defining feature of injustice in the Global South is the predominance of the informal economy. A large proportion of the workforce is engaged in informal, unregulated, and insecure employment without legal protection, social security, or stable incomes. Informal workers often lack access to healthcare, pensions, and labour rights, making them highly vulnerable to economic shocks and exploitation.

The informal economy reveals how injustice is embedded in the structure of economic systems rather than being an accidental outcome of unfair distribution. Formal legal equality and labour laws may exist, but they often fail to reach those working outside the formal sector. As a result, institutional frameworks that assume formal employment and stable markets inadequately address the lived realities of economic insecurity. Justice in such contexts requires attention to power relations between employers and workers, as well as to the state's capacity and willingness to regulate markets in favour of the vulnerable.

c) Caste, Race, and Ethnicity

Social injustice in the Global South is profoundly shaped by entrenched systems of caste, race, and ethnicity. These forms of social hierarchy structure access to resources, education, employment, and political power. In societies marked by caste or racial stratification, inequality is not merely a matter of unequal distribution but of systematic exclusion and social domination.

Such hierarchies assign differential worth to individuals and groups, often justified through tradition, culture, or pseudo-biological narratives. They create durable patterns of advantage and disadvantage that persist even when formal legal equality is achieved. Marginalized groups may face discrimination in everyday interactions, exclusion from public spaces, and violence, all of which undermine their ability to exercise rights and freedoms. These realities expose the inadequacy of justice frameworks that treat individuals as socially unmarked and fail to address collective and identity-based forms of oppression.

d) Gendered Injustice

Gender constitutes another critical axis of social injustice in the Global South. Gendered injustice manifests in unequal access to education and healthcare, limited economic opportunities, unpaid care burdens, and widespread gender-based violence. Women and gender minorities often experience injustice at the intersection of economic deprivation and patriarchal social norms.

Even where legal rights for women exist, social practices and power relations frequently undermine their effective realization. Informal labour markets disproportionately rely on women's work while denying them security and recognition. Additionally, cultural norms often restrict women's autonomy and participation in public life. Gendered injustice thus reveals the gap between formal equality and substantive justice, underscoring the need for approaches that address social relations, cultural norms, and power structures rather than relying solely on legal reforms.

e) Colonial Legacy and Historical Injustice

The colonial legacy remains a foundational source of social injustice in the Global South. Colonial rule reorganized economies to serve imperial interests, disrupted indigenous social systems, and institutionalized racial and ethnic hierarchies. These processes produced patterns of underdevelopment, dependency, and inequality that continue to shape post-colonial societies.

Colonial administrations often concentrated resources and power in the hands of a few while marginalizing vast populations. Post-colonial states inherited these unequal structures, and despite political independence, many have struggled to transform them. Land dispossession, extractive economies, and cultural domination have left enduring scars that cannot be addressed through present-day redistribution alone. Justice in such contexts necessarily involves grappling with historical wrongs and their continuing effects.

f) Structural and Historical Nature of Injustice

Taken together, these dimensions reveal a crucial insight: injustice in the Global South is structural and historical, not merely distributive. It is embedded in social institutions, economic systems, cultural norms, and historical processes that shape people's lives over time. Distributive measures such as welfare policies or income transfers, while important, are insufficient on their own to dismantle deeply rooted inequalities.

Structural injustice operates through everyday practices and power relations that systematically disadvantage certain groups, often without direct intent or overt discrimination. Historical injustice compounds these effects by creating cumulative disadvantages across generations. As a result, individuals do not begin from equal starting points, and formal equality before law fails to translate into substantive equality in lived experience.

Understanding these realities challenges justice frameworks that prioritize abstract principles and institutional design while neglecting social context and history. It suggests that social justice in the Global South requires transformative approaches capable of addressing power, recognition, and human dignity alongside redistribution. Only by acknowledging the structural and historical nature of injustice can political theory develop a conception of justice that resonates with the lived realities of the Global South.

Critiquing Western Liberal Justice from the Global South

The limitations of Western liberal frameworks become most evident when they are examined from the lived realities and normative concerns of the Global South. While liberal theories emphasize fairness of institutions, formal equality, and rights-based justice, experiences of poverty, exclusion, and domination in post-colonial societies reveal a significant gap between institutional justice and lived justice. Thinkers from the Global South and those engaging critically with development and post-colonial conditions have questioned whether justice can be meaningfully assessed without reference to social power, historical disadvantage, and actual human capabilities. This section critically evaluates Western liberal justice by drawing upon the works of Amartya Sen, B R Ambedkar, and broader post-colonial perspectives.

a) Institutional Justice ≠ Lived Justice

A central critique of Western liberal justice concerns its strong focus on institutions as the primary sites of justice. Liberal theories, particularly Rawlsian justice, evaluate justice by examining whether social institutions—constitutions, laws, markets, and welfare policies—are arranged according to fair principles. While this institutional emphasis provides normative clarity and stability, it risks equating justice with the formal design of institutions rather than with their effects on people's actual lives.

Amartya Sen sharply critiques this tendency, describing it as an excessive reliance on "transcendental institutionalism." According to Sen, a society may possess institutions that appear just in theory, yet continue to produce severe injustice in practice. In the Global South, democratic constitutions, legal equality, and welfare provisions often coexist with extreme poverty, hunger, illiteracy, and social exclusion. This coexistence exposes the inadequacy of judging justice solely by institutional arrangements without evaluating outcomes in terms of human well-being and freedom.

From the Global South perspective, justice must be assessed in relation to how people actually live, not merely how institutions are structured. Lived justice requires attention to everyday experiences of deprivation, humiliation, and powerlessness that are often invisible within institutional frameworks. Thus, institutional justice, while necessary, is insufficient for addressing deeply entrenched social injustice.

b) Formal Equality ≠ Substantive Equality

Another major critique concerns the liberal emphasis on formal equality, particularly equality before law. Western liberal justice assumes that once individuals are granted equal legal rights and protections, justice is substantially achieved. However, in societies marked by caste hierarchies, racial stratification, ethnic marginalization, and gender inequality, formal equality does not translate into substantive equality.

B. R. Ambedkar's political thought provides a powerful critique of this liberal assumption. Ambedkar argued that political democracy based on formal equality is hollow without social democracy, which he defined as a way of life grounded in liberty, equality, and fraternity. For Ambedkar, legal equality alone could not dismantle caste-based domination, which operates through social practices, cultural norms, and economic exclusion. Individuals may be equal before law, yet profoundly unequal in society.

In the Global South, social hierarchies assign unequal social worth to individuals and groups, shaping their access to education, employment, and dignity. Formal equality fails to account for these unequal starting points. Liberal justice, by treating individuals as abstract equals, overlooks how social identity structures life chances. Substantive equality, by contrast, requires active intervention to dismantle hierarchies and to enable marginalized groups to participate as equals in social and political life.

c) Rights Without Capacity Are Hollow

Perhaps the most significant critique advanced by Global South thinkers is that rights without capacity are hollow. Western liberal frameworks place great emphasis on individual rights,

assuming that once rights are guaranteed, individuals can exercise freedom and agency. However, in contexts of severe poverty and social exclusion, the mere possession of rights does not ensure the ability to use them.

Amartya Sen's capability approach directly addresses this gap by shifting the focus of justice from rights and resources to capabilities—the real freedoms individuals have to achieve valued ways of being and doing. Sen argues that two individuals with identical rights and resources may have vastly different capabilities due to differences in health, education, social status, or discrimination. In the Global South, marginalized communities often lack the social and material conditions necessary to convert rights into meaningful freedoms.

This critique reveals a fundamental weakness in rights-based individualism. Rights are normatively important, but without the capacity to exercise them, they remain symbolic rather than substantive. Justice, therefore, cannot be reduced to legal entitlements; it must involve empowering individuals with the conditions necessary for agency, dignity, and participation.

d) Ambedkar and the Critique of Liberal Neutrality

Ambedkar also challenges the liberal commitment to state neutrality and minimal intervention in social relations. Western liberal justice often assumes that the state should remain neutral among social groups and focus on ensuring fair procedures. Ambedkar, however, recognized that neutrality in deeply unequal societies effectively perpetuates existing hierarchies.

For Ambedkar, social justice required a transformative role of the state—one that actively dismantles oppressive social structures rather than merely guaranteeing formal rights. His emphasis on fraternity highlights the moral and social dimensions of justice that liberal frameworks tend to ignore. Without social solidarity and mutual recognition, institutional reforms remain fragile and incomplete.

e) Post-Colonial Critiques of Universal Liberalism

Post-colonial thinkers further deepen the critique of Western liberal justice by questioning its claim to universality. Liberal theories often present themselves as neutral and universally applicable, yet they are rooted in specific historical and cultural contexts shaped by European modernity. When applied to post-colonial societies, these frameworks may overlook indigenous social realities and reproduce epistemic dominance.

Post-colonial critiques emphasize that injustice in the Global South is inseparable from histories of colonial exploitation, cultural domination, and economic dependency. Liberal justice's forward-looking orientation fails to adequately address historical wrongs and their continuing effects. Justice, from this perspective, must incorporate recognition of historical injustice and collective harm, not merely individual rights and present-day distributions.

f) Reframing Justice from the Global South

Taken together, these critiques underscore a central insight: Western liberal justice, while normatively powerful, remains incomplete and insufficient when viewed from the Global South. Institutional justice does not guarantee lived justice; formal equality does not ensure substantive equality; and rights without capacity offer little relief to the marginalized.

By drawing on Sen's capability approach, Ambedkar's vision of social democracy, and post-colonial critiques, this section argues for a reconceptualization of social justice that is context-sensitive, historically informed, and attentive to power relations. Justice must be understood not only as fairness of institutions but as the realization of human dignity and freedom in everyday life. This reframing provides the normative foundation for moving beyond Western liberal frameworks toward a more inclusive and transformative conception of social justice in the Global South.

Alternative Frameworks of Social Justice

The limitations of Western liberal frameworks invite the exploration of alternative conceptions of social justice that are better equipped to address the structural, historical, and relational nature of injustice in the Global South. Rather than rejecting liberal concerns altogether, these alternatives seek to reorient the normative focus of justice—from abstract principles to lived realities, from formal rights to real freedoms, and from institutional neutrality to transformative change. Among the most influential approaches are the capability approach, perspectives emphasizing recognition alongside redistribution, and the idea of social justice as emancipation. Together, they offer a more comprehensive and context-sensitive understanding of justice.

A. Capability Approach

- Justice as Real Freedom

The capability approach represents a fundamental shift in thinking about social justice. Instead of asking whether institutions are fair or whether resources are equally distributed, it asks whether people actually enjoy real freedom to live the kinds of lives they value. Justice, from this perspective, is not merely about formal rights or material means but about individuals' substantive opportunities to achieve well-being.

Developed most prominently by Amartya Sen, the capability approach critiques justice frameworks that focus exclusively on resources or institutional arrangements. Sen argues that possessing goods or rights does not automatically translate into freedom. What matters is the ability to convert these means into meaningful outcomes. For instance, equal access to education as a formal right does not ensure justice if social conditions prevent certain groups from attending school or benefiting from education.

By foregrounding real freedom, the capability approach directly addresses the gap between institutional justice and lived experience. In the Global South, where poverty, discrimination, and social stigma constrain choice, justice must be evaluated by examining what people are actually able to do and to be.

- **Human Dignity**

Another central contribution of the capability approach is its emphasis on human dignity. Justice is closely linked to respecting and promoting the inherent worth of individuals. Deprivation is not only material but also moral and social, often involving humiliation, exclusion, and loss of self-respect.

In contexts marked by caste hierarchies, racial discrimination, or gender subordination, injustice frequently takes the form of denial of dignity rather than mere lack of income. The capability approach captures this dimension by recognizing that dignity depends on social recognition, bodily integrity, and the freedom to participate in collective life. Justice, therefore, must address conditions that allow individuals to live with self-respect and agency, not simply survive.

- **Context Sensitivity**

A key strength of the capability approach lies in its context sensitivity. Unlike universalist frameworks that apply a fixed set of principles across societies, the capability approach allows for variation based on social, cultural, and historical conditions. What constitutes a meaningful capability may differ across contexts, and justice must be responsive to these differences.

In the Global South, where social identities and historical legacies shape deprivation, context-sensitive evaluation becomes crucial. Justice cannot be reduced to standardized benchmarks imported from Western experiences. The capability approach thus offers a flexible normative framework that can engage with the specific realities of post-colonial societies while retaining universal concern for human well-being.

B. Recognition and Redistribution

- **Social Identity and Justice**

Another important alternative framework emphasizes the relationship between recognition and redistribution. Traditional distributive theories focus primarily on economic inequality, treating injustice as a problem of unfair allocation of resources. However, in the Global South, injustice is also deeply tied to social identity—caste, race, ethnicity, religion, and gender—which shapes individuals' social standing and access to opportunities.

Recognition-based approaches argue that justice requires acknowledging and valuing marginalized identities. Misrecognition—manifested through stigma, stereotyping, and cultural domination—undermines individuals' self-respect and participation in social life. In societies marked by entrenched hierarchies, economic redistribution alone cannot dismantle systems of exclusion unless accompanied by social and cultural transformation.

- **Structural Exclusion**

The emphasis on recognition draws attention to structural exclusion, which operates through institutions, norms, and practices that systematically disadvantage certain groups. Structural injustice is not always the result of deliberate discrimination; it is often embedded in routine social processes that appear neutral but reproduce inequality.

For example, policies that treat all citizens identically may perpetuate disadvantage if they ignore unequal starting points. Recognition-based perspectives insist that justice requires confronting these structural dynamics and addressing how social identities interact with economic deprivation. Redistribution without recognition risks reinforcing dependency or failing to reach those most marginalized, while recognition without redistribution may remain symbolic.

By integrating recognition with redistribution, this framework provides a more holistic understanding of social justice, one that is particularly relevant to the Global South, where material inequality and social exclusion are deeply intertwined.

C. Social Justice as Emancipation

- **Moving Beyond Charity**

A further reorientation of social justice emerges from the idea of justice as emancipation. This perspective challenges approaches that treat poverty and inequality as problems to be alleviated through charity or welfare alone. While welfare measures are important, they often address symptoms rather than root causes and may reinforce hierarchical relationships between benefactors and recipients.

Justice as emancipation emphasizes empowerment rather than assistance. It seeks to transform social conditions so that individuals and communities can exercise agency and control over their lives. In the Global South, where marginalized groups have historically been subjects of paternalistic interventions, this shift is normatively significant. Justice must enable people to claim rights and shape institutions, not merely receive benefits.

- **Addressing Power Relations**

At the heart of emancipatory justice is a focus on power relations. Injustice persists not simply because of unequal distribution but because power is unevenly structured and exercised. Social hierarchies, political marginalization, and economic dependency limit the capacity of certain groups to influence decisions that affect their lives.

An emancipatory framework insists that social justice requires redistributing power as well as resources. This includes enhancing political participation, strengthening collective organization, and challenging dominant social norms. Addressing power relations also means acknowledging historical injustices and their ongoing effects, rather than treating inequality as a temporary deviation from an otherwise fair system.

By foregrounding power, emancipatory justice complements capability-based and recognition-oriented approaches. It highlights the need for transformative change that goes beyond institutional reform to alter the underlying social relations that produce injustice.

- **Toward a Transformative Conception of Social Justice**

Taken together, these alternative frameworks offer a powerful critique of Western liberal justice and a constructive path forward. The capability approach redefines justice as real freedom and dignity; recognition and redistribution highlight the interplay of identity and material inequality; and emancipatory perspectives emphasize empowerment and transformation.

For the Global South, where injustice is structural and historical, these frameworks provide the normative tools necessary to move beyond abstract universalism. Social justice must be understood not merely as fair institutions or equal rights, but as the creation of social conditions that enable all individuals to live with dignity, agency, and freedom. This transformative conception of justice lays the groundwork for rethinking social justice beyond Western liberal frameworks.

Toward a Context-Sensitive Theory of Justice

A context-sensitive theory of justice for the Global South must move beyond the limits of Western liberal universalism while retaining its normative concern for equality and fairness. Western liberalism emphasizes abstract equality, impartial institutions, individual rights, and a neutral state. While these principles are normatively important, they remain insufficient in societies marked by deep historical injustices, structural inequalities, and entrenched social hierarchies.

In contrast, a Global South–oriented approach to justice prioritizes substantive equality over formal equality. Justice is not assessed merely by equal legal status but by whether individuals are able to live with dignity and freedom in practice. This requires shifting the focus from institutions alone to social relations, where caste, race, gender, and power shape access to opportunities. Similarly, justice must move from a narrow emphasis on rights to a concern with capabilities, recognizing that rights are meaningful only when individuals possess the social and material conditions to exercise them.

Finally, the idea of a neutral state must give way to that of a transformative state. In deeply unequal societies, state neutrality often reproduces existing hierarchies. A transformative state is required to actively dismantle structures of domination and exclusion.

Social justice in the Global South, therefore, must integrate redistribution to address material inequality, recognition to confront social hierarchies, and empowerment to transform power relations and enable genuine human freedom.

Conclusion

This paper has argued that Western liberal frameworks of social justice, despite their significant normative contributions, remain insufficient for addressing the realities of injustice in the Global South. Their focus on abstract equality, formal rights, and institutional fairness often fails to account for the historical legacies of colonialism, entrenched social hierarchies, and unequal power relations that continue to shape poverty and exclusion. As a result, the existence of democratic institutions and legal equality does not necessarily translate into substantive justice in the everyday lives of marginalized groups.

The analysis has shown that alternative frameworks of social justice are therefore essential. Approaches centered on capabilities, recognition, and emancipation shift the focus of justice from institutions to lived experience, from formal entitlements to real freedoms, and from state neutrality to social transformation. These perspectives highlight that injustice in the Global South is not merely distributive but structural and relational, requiring attention to dignity, identity, and empowerment alongside material redistribution.

Taken together, the discussion underscores the need for a context-sensitive conception of social justice that integrates redistribution, recognition, and empowerment. Such a framework is better equipped to address deep and persistent inequalities and to promote substantive equality in post-colonial societies. Ultimately, the experience of the Global South demonstrates that social justice cannot be meaningfully theorized through abstract universalism alone. **Social justice cannot be universalized without being contextualized.**

References

- Ambedkar, B. R. (1936). Annihilation of caste. Bombay: Self-published.
- Ambedkar, B. R. (1949). The Constitution of India: Debates (Vol. 7). New Delhi: Government of India.
- Barreno-Alcalde, S. (2024). The multidisciplinary nature of the capability approach. Journal of Human Development, 45(3), 56–78.
- Deb, N. (2025). Social justice in the Global South: Concepts and contextual dynamics. In Social Justice in the Global South (pp. 1–24). Edward Elgar Publishing.
- Fraser, N. (2009). Scales of justice: Reimagining political space in a globalizing world. New York, NY: Columbia University Press.
- Garza-Vázquez, O. (2023). Assessing Amartya Sen's idea of justice: Conceptual framework and injustice reduction. Review of Social Theory, 19(2), 101–121. (
- Musella, A. M., & Corseri, L. A. (2021). The application of Sen's capability approach to the study of social and economic phenomena. American International Journal of Contemporary Research, 11(2), 45–63.
- Nussbaum, M. C. (2003). Capabilities as fundamental entitlements: Sen and social justice. Feminist Economics, 9(2–3), 33–59.
- Porto, M. (2025). Challenges and possibilities of social justice language education in a difficult context in the Global South. Education Sciences, 15(4), 492. [https://doi.org/10.3390/educsci15040492]
- Rawls, J. (1971). A theory of justice. Cambridge, MA: Harvard University Press.
- Rawls, J. (2001). Justice as fairness: A restatement. Cambridge, MA: Harvard University Press.
- Schweiger, G. (2025). The capability approach as a normative foundation for social work with socially disadvantaged children and youth. Social Sciences, 14(6), 326. [https://doi.org/10.3390/socsci14060326]
- Sen, A. (1999). Development as freedom. New Delhi: Oxford University Press.
- Sen, A. (2009). The idea of justice. Cambridge, MA: Harvard University Press.
- Young, I. M. (1990). Justice and the politics of difference. Princeton, NJ: Princeton University Press.
- Young, I. M. (2011). Responsibility for justice. New York, NY: Oxford University Press.
- https://journals.sagepub.com/doi/10.1177/21582440241284951?utm_source=chatgpt.com "The Multidisciplinary Nature of the Capability Approach"
- https://www.elgaronline.com/abstract/book/9781803921150/chapter1.xml?utm_source=chatgpt.com "1: Social justice in the Global South in"
- https://www.tandfonline.com/doi/full/10.1080/00346764.2021.1881150?utm_source=chatgpt.com "an assessment of Amartya Sen's Idea of Justice in the ..."

- https://aijcr.thebrpi.org/journals/Vol_11_No_2_June_2021/4.pdf?utm_source=chatgpt.com "The Application of Sen's Capability Approach to the Study of Social ..."
- https://philpapers.org/archive/nuscaf.pdf?utm_source=chatgpt.com "Capabilities as Fundamental Entitlements: Sen and Social ..."
- https://www.mdpi.com/2227-7102/15/4/492?utm_source=chatgpt.com "Challenges and Possibilities of Social Justice Language ..."
- https://www.mdpi.com/2076-0760/14/6/326?utm_source=chatgpt.com "The Capability Approach as a Normative Foundation for Social Work ..."

कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) और रोजगार: सामाजिक संरचना पर प्रभाव

डॉ. अखिलेश कुमार सरोज
(असि. प्रोफेसर- समाजशास्त्र)
डॉ .राजेश्वर सेवाश्रम महाविद्यालय ढिंढुई , प्रतापगढ़।
संबंद्ध-प्रो.राजेंद्र सिंह रज्जू भय्या विश्वविद्यालय प्रयागराज (उ. प्र.)

सारांश-

" 21वीं सदी के तीसरे दशक में कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence – AI) वैश्विक अर्थव्यवस्था और समाज के लिए एक निर्णायक शक्ति के रूप में उभरी है। उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशासन, वित्त, मीडिया और श्रम बाजार में AI-आधारित तकनीकों का तेजी से विस्तार हो रहा है। World Economic Forum (WEF) की विभिन्न रिपोर्टों—विशेषतः Future of Jobs—के अनुसार AI न केवल पारंपरिक नौकरियों को प्रभावित कर रही है, बल्कि नए कौशल, नई भूमिकाएँ और नई सामाजिक संरचनाएँ भी निर्मित कर रही है । यह शोध-पत्र AI के रोजगार पर प्रभाव का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है। इसमें संरचनात्मक-कार्यात्मकतावाद, संघर्ष सिद्धांत तथा प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद के आधार पर AI और श्रम के अंतर्संबंधों का अध्ययन किया गया है। साथ ही, यह भी देखा गया है कि AI कैसे वर्गीय विभाजन, लैंगिक असमानता और डिजिटल डिवाइड को प्रभावित कर रही है । अंततः शोध-पत्र नीति-निर्माण, शिक्षा और कौशल विकास के लिए सुझाव प्रस्तुत करता है ।"

कुंजीभूत शब्द- कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence – AI), रोजगार संरचना, श्रम बाजार, सामाजिक संरचना, स्वचालन , कौशल विकास , डिजिटल डिवाइड , लैंगिक समानता , गिग इकॉनमी , असंगठित श्रम , शिक्षा और प्रशिक्षण , नैतिकता

कृत्रिम बुद्धिमत्ता वह तकनीक है जिसके माध्यम से मशीनें मानव-समान निर्णय लेने, सीखने और समस्या-समाधान की क्षमता विकसित करती हैं। मशीन लर्निंग, डीप लर्निंग, रोबोटिक्स और ऑटोमेशन AI के प्रमुख आयाम हैं।

औद्योगिक क्रांति से लेकर सूचना क्रांति तक, हर तकनीकी परिवर्तन ने रोजगार संरचना को बदला है। आज AI चौथी औद्योगिक क्रांति का प्रमुख आधार है। World Economic Forum की रिपोर्ट (Future of Jobs Report 2023) के अनुसार 2027 तक लगभग 23% नौकरियों में परिवर्तन (सृजन या विनाश) की संभावना है।

यह परिवर्तन केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक भी है—क्योंकि रोजगार सामाजिक प्रतिष्ठा, पहचान और वर्ग-स्थिति का निर्धारक होता है। अतः AI के प्रभाव का समाजशास्त्रीय विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है।

सैद्धांतिक रूपरेखा –

संरचनात्मक-कार्यात्मकतावाद-

संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण समाज को एक सुव्यवस्थित तंत्र के रूप में देखता है, जिसमें परिवार, शिक्षा, अर्थव्यवस्था और राज्य जैसी संस्थाएँ विशिष्ट कार्य निभाती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में कृत्रिम बुद्धिमत्ता को एक उभरती सामाजिक-आर्थिक संस्था माना जा सकता है, जो उत्पादन प्रक्रिया को अधिक कुशल और संगठित बनाती है। AI कार्यों के स्वचालन, समय की बचत और संसाधनों के बेहतर उपयोग के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को नई दिशा देती है। यह श्रम-विभाजन को पुनर्गठित करती है और नए कौशलों की मांग उत्पन्न करती है।

- संघर्ष सिद्धांत -

Karl Marx के अनुसार समाज में संसाधनों और साधनों का नियंत्रण शक्ति-संतुलन को निर्धारित करता है। इसी आधार पर AI को भी शक्ति और पूंजी के उपकरण के रूप में देखा जा सकता है। जिनके पास तकनीकी संसाधनों और पूंजी का स्वामित्व है, वे अधिक लाभ अर्जित करते हैं, जबकि कम-कौशल वाले श्रमिक असुरक्षा और बेरोजगारी का सामना कर सकते हैं। इससे वर्गीय असमानता बढ़ने की आशंका रहती है।

- प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद-

यह दृष्टिकोण व्यक्ति के अनुभव और सामाजिक अंतःक्रियाओं पर बल देता है। AI के बढ़ते उपयोग से कार्यस्थलों पर मानव-मशीन संबंधों में परिवर्तन हो रहा है, जिससे कर्मचारियों की पहचान, आत्मसम्मान और सामाजिक भूमिका की धारणा प्रभावित हो सकती है।

AI और रोजगार संरचना में परिवर्तन -

कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने श्रम बाजार की संरचना में व्यापक बदलाव उत्पन्न किए हैं। यह परिवर्तन केवल कुछ विशिष्ट क्षेत्रों तक सीमित नहीं है, बल्कि उत्पादन, सेवा, वित्त, प्रशासन और संचार जैसे अनेक क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा है। AI के कारण कार्यों की प्रकृति, आवश्यक कौशल और रोजगार के अवसरों की दिशा में पुनर्गठन देखा जा रहा है।

- नौकरियों का स्वचालन-

World Economic Forum की Future of Jobs Report के अनुसार वे कार्य जो दोहरावपूर्ण (repetitive), नियम-आधारित और संरचित होते हैं, स्वचालन से अधिक प्रभावित हो रहे हैं। डेटा एंट्री, लेखा-जोखा, बैंकिंग क्लर्क, टेलीमार्केटिंग, ग्राहक सेवा के प्रारंभिक स्तर के कार्य तथा कुछ प्रशासनिक भूमिकाएँ AI और रोबोटिक प्रोसेस ऑटोमेशन के कारण कम होती जा रही हैं। इससे निम्न और मध्यम कौशल वाले कर्मचारियों के लिए रोजगार अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। हालांकि, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि स्वचालन पूर्णतः रोजगार समाप्त नहीं करता, बल्कि कार्य की प्रकृति को परिवर्तित करता है।

- नई नौकरियों का सृजन-

जहाँ एक ओर कुछ पारंपरिक भूमिकाएँ घट रही हैं, वहीं AI से संबंधित नए रोजगार अवसर भी तेजी से उभर रहे हैं। AI इंजीनियर, डेटा साइंटिस्ट, मशीन लर्निंग विशेषज्ञ, साइबर सुरक्षा विश्लेषक, क्लाउड कंप्यूटिंग विशेषज्ञ और डिजिटल उत्पाद प्रबंधक जैसी भूमिकाओं की मांग बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त, नैतिक AI (Ethical AI) और डेटा गोपनीयता से संबंधित पद भी विकसित हो रहे हैं। यह प्रवृत्ति दर्शाती है कि तकनीकी परिवर्तन के साथ श्रम बाजार में पुनर्संरचना होती है, न कि केवल संकुचन।

- कौशल का पुनर्संरचना -

रोजगार के बदलते स्वरूप के कारण कौशल विकास अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। World Economic Forum के अनुसार बड़ी संख्या में कर्मचारियों को आने वाले वर्षों में नए कौशल सीखने की आवश्यकता होगी। विश्लेषणात्मक सोच, समस्या-समाधान क्षमता, डिजिटल साक्षरता, रचनात्मकता और अनुकूलनशीलता जैसे कौशल अधिक महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। अतः सरकारों, शैक्षणिक संस्थानों और उद्योगों को मिलकर पुनःकौशल (reskilling) और उन्नयन (upskilling) की नीतियों को बढ़ावा देना चाहिए, ताकि श्रमिक तकनीकी परिवर्तन के साथ तालमेल बिठा सकें।

सामाजिक असमानता और डिजिटल डिवाइड -

कृत्रिम बुद्धिमत्ता का विस्तार केवल तकनीकी परिवर्तन नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव डालने वाली प्रक्रिया है। AI से उत्पन्न अवसर—जैसे उच्च वेतन वाली तकनीकी नौकरियाँ, डिजिटल उद्यमिता और ऑनलाइन सेवाएँ—मुख्यतः उन व्यक्तियों और समुदायों को अधिक लाभ पहुंचाते हैं जिनके पास गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, डिजिटल उपकरण और इंटरनेट की सुलभ पहुँच उपलब्ध है। इस प्रकार AI का लाभ समान रूप से वितरित नहीं होता, बल्कि पहले से सशक्त वर्गों को और मजबूत कर सकता है। UNESCO की विभिन्न रिपोर्टों में यह संकेत दिया गया है कि विकासशील देशों में डिजिटल साक्षरता और तकनीकी अवसंरचना की कमी सामाजिक असमानताओं को बढ़ा सकती है। जिन क्षेत्रों में इंटरनेट कनेक्टिविटी, कंप्यूटर संसाधन और तकनीकी प्रशिक्षण सीमित हैं, वहाँ के लोग AI-आधारित अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा करने में पिछड़ सकते हैं।

ग्रामीण-शहरी विभाजन इस संदर्भ में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। शहरी क्षेत्रों में तकनीकी संसाधनों, प्रशिक्षण संस्थानों और रोजगार अवसरों की अधिक उपलब्धता होती है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में इनका अभाव रहता है। इसी प्रकार, लैंगिक असमानता भी एक प्रमुख मुद्दा है, क्योंकि तकनीकी शिक्षा और STEM क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी अपेक्षाकृत कम है। वर्गीय दृष्टि से भी उच्च आय वर्ग के लोग AI से संबंधित कौशल विकसित करने में सक्षम होते हैं, जबकि निम्न आय वर्ग संसाधनों की कमी के कारण पीछे रह सकता है।

अतः AI के प्रसार को समावेशी बनाने के लिए डिजिटल साक्षरता, समान शैक्षिक अवसर और तकनीकी संसाधनों की सार्वभौमिक पहुँच सुनिश्चित करना आवश्यक है।

लैंगिक परिप्रेक्ष्य -

तकनीकी और AI-आधारित क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी अभी भी सीमित है। STEM (Science, Technology, Engineering, Mathematics) क्षेत्रों में लैंगिक अंतर स्पष्ट है, जिससे महिलाओं के लिए नई तकनीकी नौकरियों में प्रवेश करना चुनौतीपूर्ण होता है। UN Women की रिपोर्टों के अनुसार, महिला प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं होने के कारण तकनीकी उद्योग में लैंगिक असमानता बनी रहती है।

AI के कारण उत्पन्न नई नौकरियाँ—जैसे डेटा साइंटिस्ट, AI इंजीनियर, मशीन लर्निंग विशेषज्ञ और डिजिटल उत्पाद प्रबंधक—में महिलाओं की सीमित भागीदारी आर्थिक असमानता को और बढ़ा सकती है। यदि नीतिगत प्रयास और शिक्षा में सुधार नहीं किया गया, तो तकनीकी क्षेत्रों में पुरुष और महिला कर्मचारियों के बीच वेतन, पदोन्नति और अवसरों में अंतर गहरा हो सकता है।

इसलिए, AI और डिजिटल अर्थव्यवस्था में लैंगिक समानता सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि महिलाओं को STEM शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण और नेतृत्व विकास के अवसर व्यापक रूप से उपलब्ध कराए जाएँ। इसके साथ ही, नीति-निर्माता और उद्योग संगठनों को महिलाओं के लिए समावेशी वातावरण तैयार करना चाहिए ताकि वे AI से संबंधित रोजगार में समान रूप से भाग ले सकें।

गिग इकॉनमी और असंगठित श्रम-कृत्रिम बुद्धिमत्ता पर आधारित डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म—जैसे राइड-शेयरिंग सेवाएँ, फूड डिलीवरी ऐप और फ्रीलांस मार्केटप्लेस—गिग इकॉनमी को तेजी से बढ़ावा दे रहे हैं। इस प्रणाली में श्रमिकों को कार्य समय और स्थान के मामले में लचीलापन मिलता है हालांकि, इस लचीलापन के साथ-साथ सामाजिक सुरक्षा और स्थायी रोजगार के अवसरों की कमी भी जुड़ी होती है। गिग और असंगठित श्रमिकों के लिए पेंशन, स्वास्थ्य बीमा, न्यूनतम वेतन और कानूनी सुरक्षा जैसी सुविधाएँ सीमित रहती हैं। International Labour Organization ने इस संदर्भ में चिंता व्यक्त की है कि गिग इकॉनमी में काम करने वाले श्रमिकों के अधिकार और सुरक्षा पर्याप्त रूप से सुनिश्चित नहीं हैं। यदि सरकारें और प्लेटफ़ॉर्म कंपनियाँ समय रहते सुरक्षा उपाय और लाभ नहीं प्रदान करती हैं, तो यह असंगठित श्रमिकों की आर्थिक अस्थिरता और सामाजिक असमानता को बढ़ा सकता है ।

इसलिए, AI आधारित गिग इकॉनमी के विकास के साथ-साथ श्रमिकों की सुरक्षा, लाभ और अधिकारों को सुनिश्चित करना आवश्यक है, ताकि लचीलापन और स्वतंत्रता के साथ सामाजिक न्याय भी सुनिश्चित किया जा सके ।

शिक्षा और कौशल विकास पर प्रभाव-

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के तेजी से बढ़ते उपयोग ने शिक्षा और कौशल विकास के क्षेत्र में नई चुनौतियाँ और अवसर उत्पन्न किए हैं। पारंपरिक शिक्षा प्रणाली अब AI-आधारित उद्योग की बदलती मांगों को पूरा करने में पर्याप्त नहीं रह गई है। इस नए युग में STEM (Science, Technology, Engineering, Mathematics) शिक्षा, डिजिटल साक्षरता और आजीवन अधिगम (Lifelong Learning) की आवश्यकता पहले से अधिक बढ़ गई है ।

World Economic Forum के अनुसार 2025–2030 के बीच विश्लेषणात्मक सोच, समस्या-समाधान क्षमता, रचनात्मकता और तकनीकी कौशल जैसे क्षमताओं की मांग अत्यधिक बढ़ेगी। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा संस्थानों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों को नई रणनीतियाँ अपनानी होंगी, जैसे डिजिटल शिक्षण उपकरणों का समावेश, प्रायोगिक और परियोजना-आधारित शिक्षा, तथा AI और डेटा साइंस पर केंद्रित पाठ्यक्रम। साथ ही, कर्मचारियों और छात्रों को लगातार नए कौशल सीखने और अनुकूलनशील बनने के अवसर प्रदान करना आवश्यक है, ताकि वे AI-आधारित रोजगार संरचना में प्रतिस्पर्धात्मक बने रह सकें। इस प्रकार, शिक्षा और कौशल विकास AI के प्रभाव को सकारात्मक दिशा में आकार देने का मुख्य साधन बन गया है ।

भारत के संदर्भ में AI और रोजगार-

भारत में कृत्रिम बुद्धिमत्ता रोजगार और आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण अवसर प्रस्तुत करती है। देश में बड़ी युवा आबादी, तकनीकी शिक्षा की बढ़ती पहुँच और सॉफ्टवेयर तथा IT क्षेत्र की मजबूती AI को रोजगार सृजन और नवाचार का माध्यम बनाने में सहायक हैं। NITI Aayog ने "AI for All" नामक रणनीति प्रस्तुत की है, जिसका उद्देश्य AI के माध्यम से समावेशी और सतत

विकास को बढ़ावा देना है। इस पहल का मुख्य फोकस तकनीकी नवाचार, कौशल विकास और छोटे एवं मध्यम उद्योगों (SMEs) को AI अपनाने के लिए सक्षम बनाना है।

हालाँकि, भारत में रोजगार संरचना की एक बड़ी चुनौती असंगठित क्षेत्र की व्यापक उपस्थिति और कौशल अंतराल (Skill Gap) है। असंगठित क्षेत्र में कार्यरत अधिकांश श्रमिकों के पास AI और डिजिटल तकनीकों से जुड़ी शिक्षा या प्रशिक्षण की कमी है। इससे उनकी प्रतिस्पर्धात्मकता प्रभावित होती है और रोजगार सृजन में असमानता बढ़ सकती है।

इसलिए भारत में AI का समावेशी विकास सुनिश्चित करने के लिए कौशल प्रशिक्षण, डिजिटल शिक्षा और ग्रामीण-शहरी स्तर पर समान अवसर उपलब्ध कराना आवश्यक है।

नैतिकता और नीति-निर्माण -

कृत्रिम बुद्धिमत्ता के व्यापक उपयोग के साथ नैतिक और कानूनी प्रश्न भी सामने आए हैं। AI सिस्टम के निर्णयों में पारदर्शिता (Transparency), जवाबदेही (Accountability) और व्यक्तिगत डेटा की सुरक्षा (Data Protection) सुनिश्चित करना अत्यंत आवश्यक है। इन पहलुओं पर ध्यान न देने से भेदभाव, गोपनीयता हानि और सामाजिक असमानता जैसी समस्याएँ बढ़ सकती हैं। European Union ने AI Regulation (AI Act) का प्रस्ताव प्रस्तुत किया है, जिसका उद्देश्य AI तकनीकों के उपयोग सकती है।

निष्कर्ष - कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) केवल रोजगार के लिए खतरा नहीं है, बल्कि यह नए अवसरों का भी सृजन कर रही है। AI पारंपरिक नौकरियों को पूरी तरह समाप्त नहीं करती, बल्कि कार्यों की प्रकृति में बदलाव लाकर नई भूमिकाएँ और नए कौशल की मांग उत्पन्न करती है। डेटा साइंटिस्ट, AI इंजीनियर, मशीन लर्निंग विशेषज्ञ और डिजिटल उत्पाद प्रबंधक जैसी नई भूमिकाएँ इस तकनीकी बदलाव का उदाहरण हैं। इसके साथ ही स्वचालन के कारण दोहराए जाने वाले कार्य कम हो रहे हैं, जिससे कर्मचारियों को अधिक जटिल, रचनात्मक और विश्लेषणात्मक कार्यों की ओर उन्मुख होना पड़ रहा है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से, AI के विस्तार से सामाजिक संरचना, वर्गीय असमानता, लैंगिक समानता और पहचान पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। तकनीकी संसाधनों और डिजिटल कौशल की असमान उपलब्धता से सामाजिक विभाजन बढ़ सकता है। वहीं, गिग इकॉनमी और असंगठित श्रम क्षेत्रों में AI का प्रभाव लचीलापन तो प्रदान करता है, लेकिन सामाजिक सुरक्षा और स्थायी रोजगार की कमी जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न करता है। यदि सरकारें, शैक्षणिक संस्थान और उद्योग संगठन मिलकर कौशल विकास, पुनःकौशल (Reskilling), आजीवन अधिगम और सामाजिक सुरक्षा के उपाय अपनाएँ, तो AI का प्रभाव सकारात्मक बन सकता है। समावेशी नीतियाँ और महिलाओं एवं पिछड़े वर्गों के लिए अवसर सुनिश्चित करना AI के लाभों का न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करेगा।

अतः AI केवल आर्थिक विकास का माध्यम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक प्रगति, समान अवसर और आधुनिक समाज की संरचना को मजबूत करने का एक शक्तिशाली साधन भी बन सकती है। उचित नीतिगत हस्तक्षेप और सामाजिक-सांस्कृतिक अनुकूलन के माध्यम से यह तकनीकी परिवर्तन समाज के हर वर्ग के लिए लाभकारी बनाया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1.World Economic Forum. (2023). The Future of Jobs Report. Geneva.
2.International Labour Organization. (2021). World Employment and Social Outlook.
3.UNESCO. (2022). Global Education Monitoring Report.
4.UN Women. (2020). Gender Equality in the Digital Age.
5.NITI Aayog. (2018). National Strategy for Artificial Intelligence.
6.Karl Marx. (1867). Das Kapital.

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

भारत में औद्योगीकरण का स्वरूप एवं उसके आयामः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सुनील कुमार
शोध छात्र–समाजशास्त्र
टी. डी. पी. जी. कालेज, जौनपुर
संबद्ध– वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल यूनिवर्सिटी,
जौनपुर

सारांश –

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया उपनिवेशिक काल से प्रारंभ होकर स्वतंत्रता पश्चात नियोजित विकास और 1991 के उदारीकरण के दौर तक क्रमिक रूप से विकसित हुई है। औपनिवेशिक काल में उद्योगों का विकास असंतुलित एवं संसाधन–केन्द्रित था। स्वतंत्रता के बाद पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भारी एवं आधारभूत उद्योगों को प्राथमिकता दी गई। उदारीकरण के पश्चात निजीकरण, वैश्वीकरण और विदेशी निवेश के कारण औद्योगिक ढाँचे में व्यापक परिवर्तन आया। यह शोध–पत्र औद्योगीकरण के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं पर्यावरणीय आयामों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द– औद्योगीकरण, आर्थिक विकास, सामाजिक परिवर्तन, उदारीकरण, पर्यावरण

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया एक जटिल ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में विकसित हुई है। जहाँ एक ओर पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रांति तकनीकी नवाचारों और उद्यमशीलता की प्रेरणा से प्रेरित थी, वहीं भारत में इसका आरंभ उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा एक आर्थिक औजार के रूप में हुआ। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत प्रारंभिक औद्योगीकरण का स्वरूप असमान, शोषणपरक और संरचनात्मक रूप से एकपक्षीय था, जिसका प्रमुख उद्देश्य स्थानीय संसाधनों और श्रमशक्ति का उपयोग करके इंग्लैंड की मिलों को कच्चा माल उपलब्ध कराना और भारत को ब्रिटिश उत्पादों का बाज़ार बनाना था। ब्रिटिश शासन में रेलमार्ग, डाक व्यवस्था और कुछ बंदरगाहों का विकास हुआ, लेकिन यह सब साम्राज्यवादी हितों को साधने के लिए था न कि स्थानीय औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए। भारत में जो भी औद्योगिक गतिविधियाँ प्रारंभ हुईं, वे मुख्यतः कच्चे माल जैसे जूट, कपास, कोयला और चाय के प्रसंस्करण तक सीमित रहीं। स्थानीय स्तर पर कुछ उद्योग जैसे जमशेदजी टाटा द्वारा स्थापित टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी (TISCO, 1907) भारतीय पूंजीवाद की शुरुआत का प्रतीक अवश्य बने, किंतु वे अपवाद स्वरूप थे। अधिकांश औद्योगिक ढाँचा औपनिवेशिक आवश्यकताओं के अधीन था, और इसका ग्रामीण जीवन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा कृ पारंपरिक हस्तशिल्प और लघु उद्योगों का पतन हुआ, ग्रामीणों की आजीविका पर संकट गहराया और पलायन की प्रवृत्ति तीव्र हुई।

भारत की स्वतंत्रता (1947) के पश्चात एक नवविकासशील राष्ट्र के रूप में औद्योगीकरण को आर्थिक आत्मनिर्भरता, रोजगार सृजन और सामाजिक न्याय का आधार माना गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारत सरकार ने योजना आधारित आर्थिक विकास का मॉडल अपनाया, जिसमें औद्योगिकरण को केंद्रीय भूमिका दी गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56) भले ही कृषि–केन्द्रित थी, किंतु द्वितीय योजना (1956–61), जिसे "महालेनोबिस मॉडल" के आधार पर तैयार किया गया, में भारी एवं बुनियादी उद्योगों की स्थापना को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। इस योजना के अंतर्गत इस्पात, उर्वरक, मशीन निर्माण, कोयला और विद्युत उत्पादन जैसे क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की गई। इस मॉडल का

मूल उद्देश्य था– पूंजीगत वस्तुओं के घरेलू उत्पादन को सशक्त कर दीर्घकालीन आर्थिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना। तीसरी (1961–66), चौथी (1969–74) और पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं में भी सार्वजनिक क्षेत्र को औद्योगिक नेतृत्व प्रदान किया गया। इन योजनाओं के अंतर्गत भिलाई, दुर्गापुर, राउरकेला और बोकारो जैसे इस्पात संयंत्रों की स्थापना, और भारी इंजीनियरिंग संस्थानों का विकास हुआ। इन नीतियों का ग्रामीण क्षेत्रों पर प्रत्यक्ष प्रभाव भले ही सीमित रहा हो, लेकिन यह निश्चित रूप से देश की औद्योगिक आधारभूत संरचना को मजबूत करने का प्रयास था।[1]

1991 में भारत में आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीति अपनाई गई, जिसे आमतौर पर स्च्छ सुधार कहा जाता है। इस नीति ने औद्योगीकरण की दिशा और स्वरूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। अब तक जो उद्योग मुख्यतः राज्य नियंत्रित और भारी उद्योगों तक सीमित थे, वे निजी क्षेत्र की भागीदारी से अधिक विविध, तकनीकी रूप से परिष्कृत और बाजार–उन्मुख हो गए। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) को प्रोत्साहित किया गया, जिससे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में अपने उत्पादन केंद्र स्थापित करने लगीं। इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं, इलेक्ट्रॉनिक्स, ऑटोमोबाइल, सूचना प्रौद्योगिकी और सेवा क्षेत्रों में तेज़ी से औद्योगीकरण हुआ। इस दौर में औद्योगीकरण की प्रक्रिया केवल बड़े शहरों तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह अर्द्ध–शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों तक विस्तार करने लगी। विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs), औद्योगिक क्लस्टर्स, और MSME (Micro, Small and Medium Enterprises) को प्रोत्साहन देने वाली नीतियों ने उद्योगों को अपेक्षाकृत पिछड़े क्षेत्रों में भी स्थापित होने की संभावना दी। इससे एक ओर आर्थिक विकेंद्रीकरण को बल मिला, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण जीवन के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ हुई।[2]

उत्तर प्रदेश, जो ऐतिहासिक रूप से एक कृषि–प्रधान राज्य रहा है, औद्योगीकरण के क्षेत्र में अपेक्षाकृत धीमी गति से आगे बढ़ा। इसका प्रमुख कारण बुनियादी ढाँचागत सुविधाओं की कमी, नीति–निर्माण में असंगति, और पूंजी निवेश की प्रवृत्ति का कमजोर होना रहा। फिर भी बीते कुछ दशकों में विशेष रूप से पूर्वांचल क्षेत्र में औद्योगिक विकास की नई लहर दिखाई दी है। अम्बेडकर नगर जैसे ज़िले, जो पूर्व में केवल कृषि अथवा परंपरागत हस्तकला के लिए जाने जाते थे, अब वस्त्र उद्योग, टाईल्स निर्माण, लकड़ी प्रसंस्करण, सोलर उपकरण निर्माण आदि के लिए पहचान बना रहे हैं। इन क्षेत्रों में छोटे और मध्यम दर्जे के उद्योगों (SMEs) की उपस्थिति बढ़ रही है, जो न केवल स्थानीय युवाओं को रोजगार प्रदान कर रहे हैं, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में भी गतिशीलता ला रहे हैं। ये उद्योग सामान्यतः स्थानीय संसाधनों और श्रमशक्ति पर आधारित होते हैं, तथा इन्हें राज्य व केंद्र सरकार की औद्योगिक नीतियों एवं योजनाओं जैसे "प्रधानमंत्री रोजगार सृजन कार्यक्रम", "मुद्रा योजना", "स्टार्टअप इंडिया", और "वन डिस्ट्रिक्ट वन प्रोडक्ट (ODOP)" से सहायता मिल रही है।

औद्योगीकरण का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन का वाहक बन रहा है। परंपरागत कृषि–निर्भर जीवन–शैली में अब वैकल्पिक आजीविका के अवसर जुड़ने लगे हैं। युवाओं में स्वरोजगार व उद्यमिता की प्रवृत्ति बढ़ रही है। महिला श्रम–बल की भागीदारी भी बढ़ी है, जिससे पारिवारिक आय में सुधार और लैंगिक भूमिका में आंशिक बदलाव दृष्टिगोचर होने लगे हैं। सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो औद्योगीकरण ने जाति–आधारित पारंपरिक व्यवसायों में गिरावट ला दी है और श्रम विभाजन को नए कौशल के अनुसार पुनः परिभाषित किया है। यह प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता को बल देती है, यद्यपि कहीं–कहीं अस्थायी असंतुलन और संघर्ष भी जन्म लेता है। वहीं, पर्यावरणीय दृष्टि से औद्योगीकरण ने जल, वायु और

भूमि प्रदूषण के नए संकटों को जन्म दिया है, जिनके समाधान हेतु नियमन और जन–जागरूकता आवश्यक हो गई है।

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया एक दीर्घकालीन, बहुस्तरीय और बहुआयामी विकास यात्रा है, जिसने उपनिवेशिक शोषण से लेकर आत्मनिर्भरता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा तक की दूरी तय की है। स्वतंत्रता के पश्चात नियोजित विकास और बाद में उदारीकरण की नीतियों ने औद्योगिक ढांचे को नई दिशा दी है। उत्तर प्रदेश जैसे राज्य, विशेषकर पूर्वांचल क्षेत्र, अब औद्योगिक गतिविधियों के उभरते केंद्र बन रहे हैं। अम्बेडकर नगर जैसे ज़िलों में वस्त्र, टाईल्स और अन्य उद्योग न केवल स्थानीय आर्थिक विकास में योगदान दे रहे हैं, बल्कि ग्रामीण जीवन के सामाजिक–सांस्कृतिक स्वरूप में भी परिवर्तन ला रहे हैं। यह स्पष्ट है कि औद्योगीकरण, यदि समावेशी और पर्यावरण–संवेदनशील नीति के साथ आगे बढ़े, तो यह ग्रामीण भारत को सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त करने का सशक्त माध्यम बन सकता है। इसलिए नीति–निर्माताओं, उद्योगपतियों और स्थानीय समुदायों के बीच तालमेल अत्यंत आवश्यक है ताकि यह प्रक्रिया केवल आर्थिक वृद्धि तक सीमित न रहे, बल्कि समाज के समग्र उत्थान की ओर अग्रसर हो।

औद्योगीकरण के विविध आयाम–

औद्योगीकरण को केवल आर्थिक उन्नयन या तकनीकी विकास की प्रक्रिया के रूप में देखना इसकी पूर्णता को सीमित कर देना होगा। वास्तव में यह एक ऐसी बहुस्तरीय सामाजिक प्रक्रिया है, जिसका प्रभाव न केवल उत्पादन के साधनों पर पड़ता है, बल्कि समाज की संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों, राजनीतिक गतिविधियों और पर्यावरणीय संतुलन तक में गहराई से परिवर्तन लाता है। औद्योगीकरण मानव सभ्यता के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना है, जो अपने साथ सकारात्मक संभावनाएँ और चुनौतियाँ, दोनों लेकर आती है। इस प्रक्रिया के प्रमुख आयाम निम्नलिखित हैं:

1. सामाजिक आयाम– औद्योगीकरण का सर्वप्रथम प्रभाव सामाजिक संरचना और संबंधों पर पड़ता है। पारंपरिक समाजों में प्रचलित संयुक्त परिवार प्रणाली औद्योगीकरण के प्रभाव में आकर धीरे–धीरे नाभिकीय (एकल) परिवार में परिवर्तित होती है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक क्षेत्रों में काम की तलाश में लोगों को अपने गांव या कस्बों से पलायन करना पड़ता है, जिससे वे सीमित सदस्यों के साथ जीवनयापन करते हैं। इसके अतिरिक्त, स्त्री–पुरुष भूमिकाओं में भी महत्त्वपूर्ण बदलाव आता है। जहाँ पहले महिलाएँ पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं तक सीमित थीं, वहीं औद्योगीकरण के चलते वे श्रम बाजार में प्रवेश करने लगीं, जिससे उनके आर्थिक, सामाजिक और आत्मिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया तेज़ हुई। इससे लैंगिक भूमिकाओं की पारंपरिक परिभाषाएँ चुनौती के घेरे में आईं। साथ ही, शैक्षिक आकांक्षाओं में भी उल्लेखनीय वृद्धि देखी गई। तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा का महत्व बढ़ा, जिससे विशेष रूप से युवाओं में रोजगारोन्मुखी प्रशिक्षण की प्रवृत्ति विकसित हुई। सामाजिक गतिशीलता (social mobility) में भी तेजी आईकृनीचले वर्गों के लोग अब शिक्षा और नौकरी के माध्यम से ऊँची सामाजिक स्थिति की ओर अग्रसर होने लगे, जिससे समाज में परंपरागत असमानताओं की जड़ें कुछ हद तक ढीली पड़ीं।

2. आर्थिक आयाम – औद्योगीकरण आर्थिक क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया है। यह पारंपरिक कृषि–प्रधान अर्थव्यवस्था से यंत्रीकृत औद्योगिक उत्पादन की ओर संक्रमण को प्रकट करता है। इस प्रक्रिया में श्रम विभाजन के सिद्धांत को अपनाया गया, जिससे कार्य दक्षता में वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन ने उत्पादन की मात्रा, विविधता और गुणवत्ता को भी उन्नत किया, जिससे उत्पादकतामें व्यापक वृद्धि हुई। साथ ही, मुद्रा आधारित लेन–देन को प्रोत्साहन मिला और नगदी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ, जो परंपरागत वस्तु विनिमय

प्रणाली से अधिक लचीली और गतिशील थी। एक नया सामाजिक वर्गकृश्रमिक वर्गकृका भी उदय हुआ, जो गाँव से पलायन कर शहरों की ओर गया और कारखानों में कार्यरत हुआ। यह वर्ग औद्योगीकरण की रीढ़ बन गया, किंतु इसके साथ–साथ वह शोषण, असुरक्षा और न्यून जीवन स्तर की समस्याओं से भी जूझता रहा। इसी आर्थिक असंतुलन ने आगे चलकर सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों को जन्म दिया।

3. राजनीतिक आयाम – औद्योगीकरण के साथ–साथ श्रमिक संगठनों, ट्रेड यूनियनों और वर्ग–आधारित आंदोलनों का जन्म हुआ। औद्योगिक मजदूरों ने अपनी सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा के लिए एकजुट होना प्रारंभ किया, जिससे संगठित श्रमिक आंदोलन का उदय हुआ। इन आंदोलनों ने लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी के नए द्वार खोले और सरकारों पर श्रम–कानून, न्यूनतम वेतन, कार्यस्थल सुरक्षा तथा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को लागू करने के लिए दबाव डाला।

औद्योगीकरण ने राज्य और पूँजीपति वर्ग के संबंधों को भी पुनर्परिभाषित किया। नियोजन और विनियमन जैसे यंत्रों के माध्यम से राज्य ने औद्योगिक विकास को नियंत्रित करने का प्रयास किया, जिससे 'कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा का जन्म हुआ। इसके साथ ही श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालयों और लोक कल्याणकारी संस्थाओं की भूमिका भी सशक्त हुई।

4. पर्यावरणीय आयाम – औद्योगीकरण ने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की गति को तीव्र कर दिया। कारखानों से निकलने वाले अपशिष्ट, रासायनिक पदार्थ, धुएँ और गैसों ने वायु, जल और मृदा को प्रदूषित किया। इससे न केवल पर्यावरणीय असंतुलन उत्पन्न हुआ, बल्कि जैव विविधता और मानव स्वास्थ्य पर भी गंभीर प्रभाव पड़े। औद्योगिक कचरे ने पारिस्थितिक तंत्र की स्वाभाविकता को बाधित किया। अत्यधिक वनों की कटाई, खनिज दोहन और भूमि अधिग्रहण ने ग्रामीण समुदायों, विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों को प्रभावित किया, जिससे विस्थापन, आजीविका संकट और सामाजिक तनाव जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इन परिस्थितियों में पर्यावरणीय आंदोलन, हरित नीतियाँ और टिकाऊ विकास (sustainable development) के सिद्धांतों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य औद्योगीकरण को अधिक उत्तरदायी और पर्यावरण–अनुकूल बनाना है।

औद्योगीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जो समाज के विभिन्न अंगों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। इसका मूल्यांकन केवल उत्पादन या आर्थिक विकास के पैमाने पर नहीं, बल्कि इसके सामाजिक–राजनीतिक प्रभाव और पर्यावरणीय स्थायित्व को ध्यान में रखकर किया जाना आवश्यक है। यदि औद्योगीकरण को समावेशी, न्यायपूर्ण और पर्यावरणीय संतुलन के साथ संचालित किया जाए, तो यह मानव समाज के सर्वांगीण विकास का प्रभावशाली माध्यम बन सकता है।[3]

निष्कर्ष –

भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया एक ऐतिहासिक रूप से विकसित, बहुस्तरीय और परिवर्तनकारी यात्रा रही है, जिसने उपनिवेशिक शोषण से आरंभ होकर आत्मनिर्भरता, नियोजित विकास और वैश्विक प्रतिस्पर्धा तक का लंबा मार्ग तय किया है। औपनिवेशिक काल में उद्योगों का स्वरूप एकपक्षीय और संसाधन–केन्द्रित था, जबकि स्वतंत्रता के पश्चात पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से भारी एवं आधारभूत उद्योगों की स्थापना कर औद्योगिक ढांचे को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया। 1991 के आर्थिक उदारीकरण ने औद्योगीकरण को नई दिशा प्रदान की, जिससे निजी क्षेत्र, विदेशी निवेश, तकनीकी नवाचार और बाजारोन्मुख उत्पादन को बढ़ावा मिला।

औद्योगीकरण ने समाज के विभिन्न आयामों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और पर्यावरण पर गहरा प्रभाव डाला है। सामाजिक स्तर पर परिवार संरचना, लैंगिक भूमिकाओं और सामाजिक गतिशीलता में

परिवर्तन हुआ; आर्थिक स्तर पर उत्पादन, रोजगार और नगदी अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ; राजनीतिक स्तर पर श्रमिक संगठनों और कल्याणकारी नीतियों का विकास हुआ; जबकि पर्यावरणीय स्तर पर संसाधनों के दोहन और प्रदूषण जैसी चुनौतियाँ उभरीं।

अतः स्पष्ट है कि औद्योगीकरण केवल आर्थिक प्रगति का साधन नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है। भविष्य में इसकी दिशा ऐसी होनी चाहिए जो समावेशी विकास, क्षेत्रीय संतुलन, सामाजिक न्याय और पर्यावरणीय स्थिरता को सुनिश्चित करे। संतुलित नीति–निर्माण, उत्तरदायी औद्योगिक प्रबंधन और जनसहभागिता के माध्यम से ही औद्योगीकरण भारत के सर्वांगीण एवं सतत विकास का प्रभावी आधार बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Srinivas, M. N.(1966) Social Change in Modern India. Berkeley: University of California Press, pp. 120–130.
2. Moore, W. E. Social Change. Englewood Cliffs, New Jersey: Prentice-Hall, 1963. (Later edition: 2nd ed., 1974). pp. 91–92.
3. United Nations, Department of Economic and Social Affairs. Processes and Problems of Industrialization in Under-developed Countries. New York: United Nations, 1955. p. 2.

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

दलित वैचारिकता और आत्मकथा लेखन

डॉ0 प्रसेन जीत सागर
एसोसिएट प्रोफेसर–हिन्दी विभाग
डॉ0 राजेश्वर सेवाश्रम महाविद्यालय
ढिंढुई, प्रतापगढ़
E-mail:prasenjeetsagarhindi@gmail.com

शोध सारांशः

दलित साहित्य भारतीय समाज की उस ऐतिहासिक पीड़ा, संघर्ष और सामाजिक असमानता की अभिव्यक्ति है, जिसे सदियों तक हाशिये पर रखा गया। दलित वैचारिकता मूलतः सामाजिक न्याय, समानता, आत्मसम्मान और प्रतिरोध से जुड़ी हुई चेतना है, यह विचारधारा विशेष रूप से डॉ0 अम्बेडकर के सामाजिक और राजनीतिक चिंतन से प्रेरित है। आत्मकथा लेखन दलित साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। जिसमें लेखक अपने कटु व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की सच्चाइयों पर प्रकाश डालता है। दलित साहित्य में हाशिये के समाज की पीड़ा, भेदभाव, अपमान और शोषण के प्रति नकार और विद्रोह का प्रभाव है। दलित वैचारिकता दलितों के सम्मान, प्रतिष्ठा और अस्मिता के प्रश्नों को उजागर करता है। दलित वैचारिकता भारतीय सामाजिक संरचना में निहित जातिगत भेदभाव, शोषण, असमानता के विरूद्ध एक वैचारिक प्रतिरोध है। यह प्रतिरोध बदलाव की मांग करता है। समानता, स्वतन्त्रता और भाईचारें का समर्थन करता है। सदियों से थोपी गयी अमानुषिक शोषण पर सवाल खड़ा किया गया और शोषण के तरीकों को बेनकाब किया गया है। दलित आत्मकथा लेखन सामाजिक विषमता, गरीबी, अशिक्षा, अस्पृश्यता, जातिगत भेदभाव आदि ऐसी प्रमुख समस्याओं को रेखांकित करता है। दलित आत्मकथा लेखन में वर्ण व्यवस्था के पोषकों एवं अभिजात वर्ग के अमानवीय दृष्टिकोणों को उजागर करता है। दलित आत्मकथाएं केवल व्यक्तिगत जीवन–वृत्तान्त नहीं होती बल्कि वे सामाजिक दस्तावेज के रूप में उभरती हैं। यह लेखन सामाजिक परिवर्तन के विमर्श को नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। सामाजिक चेतना, समानता आधारित समाज की स्थापना का वैचारिक आधार भी प्रदान करता है।

मूल शब्दः–अभिव्यक्ति, असमानता, हाशिये, वैचारिकता, प्रतिरोध, अमानुषिक, विषमता, दस्तावेज, अस्पृश्यता, अभिजात वर्ग, अमानवीय, अस्मिता, शोषण, प्रतिष्ठा, समतामूलक, गुलामी, उपेक्षित, शक्तिपुंज, साहित्य आदि।

विचार मानव समाज की धरोहर होता है। जो हर युग, देश–काल परिस्थिति में मौजूद रहा। विश्व में अनेक विचारक हुए जिन्होंने मानवजाति को अमूल्य विचार दिये। ऐसे विचारकों में डॉ० अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले प्रमुख रहे। इन्हीं के विचारों से प्रेरणा लेकर दलित साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है। दलित साहित्य में दलितों की पीड़ा, उत्पीड़न, शोषण के प्रति नकार और विद्रोह है। दलित साहित्य समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुत्व का पक्षधर है। दलित साहित्य की वैचारिकी में केवल दलितों का सम्मान, प्रतिष्ठा और अस्मिता तक ही सीमित नहीं है बल्कि समानता के साथ–साथ बहुजन समाज के प्रतिष्ठा, स्वाभिमान और अस्मिता का निर्माण कर उसके लिए आर्थिक समानता और राजनीतिक भागीदारी भी सुनिश्चित करने की आकांक्षा है। वह डॉ० अम्बेडकर के विचारों के अनुरूप सभी के साथ भाईचारा का रिश्ता कायम करने का

इच्छुक है। समतामूलक समाज के निर्माण में दलित साहित्य योगदान करता है। सदियों से चली आ रही विषमता का वह विरोधी है। दलित साहित्य की वैचारिकता के सन्दर्भ में ओम प्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है ष्दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ० अम्बेडकर का जीवन संघर्ष एवं ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है। सभी दलित रचनाकार इस बिन्दु पर एकमत हैं कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामन्ती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व या प्रभुत्व के विरोध में उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया था। यही कारण है कि जहाँ दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फुले का अपना विशिष्ट विचारक माना वहीं डॉ० अम्बेडकर को अपना शक्तिपुंज स्वीकार किया। ऐसा शक्तिपुंज जिसमें समूचा दलित लेखन वैचारिक ऊर्जा ग्रहण करता है। डॉ० अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर साहित्य आन्दोलन प्रगति की ओर बढ़ रहा है।''1

दलित साहित्य में दलितों के मुक्ति संघर्ष की कथा है। दलित साहित्य में उन मूक, शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित, उपेक्षित दलितों को वाणी दी है जो सामन्ती अर्थव्यवस्था, ब्राह्मणवादी, सामाजिक संरचना और धार्मिक कूपमंडूकता में हजारों साल से पिस रहे थे। ओम प्रकाश वाल्मीकि ने दलित चेतना की वैचारिकी को स्पष्ट करते हुए लिखा है– ष्वैचारिक रूप से दलित चेतना, बन्धुता और स्वतन्त्रता की पक्षधर है। अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, पुर्नजन्म, ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था का विरोध, हिन्दू देवी–देवताओं के प्रति अनास्था, अधिनायकवाद का विरोध, आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद का विरोध, वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता, भाषावाद, लिंगवाद का विरोध, स्त्री के प्रति समानता का भाव आदि विशिष्ट बिन्दु हैं जो दलित चेतना के सरोंकारों में शामिल है।'' 2

दलित साहित्य की वैचारिकता को मजबूत करना आज भी सबसे बड़ी चुनौती है। दलित साहित्य में मुख्य रूप से दलित आत्मकथाएं वैचारिक लेखों के माध्यम से दलित जीवन को साहित्य की मुख्यधारा में लाने जैसा चुनौतीपूर्ण कार्य कर रहा है। रत्नकुमार सांभरिया ने लिखा है– ''महात्मा बुद्ध, संत कबीर, संत रैदास, महात्मा फुले और डॉ० अम्बेडकर ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के सच, धर्मशास्त्रों के अन्तःस्थल और धर्म के जमीनी यथार्थ को जानने के लिए भरसक प्रयास किये। उनका वह अवदान आज दलित साहित्य की वैचारिकी है, जिसको बल प्रदान करना दलित साहित्य के लिए बड़ी चुनौती है।''3

हिन्दी दलित साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग डॉ० अम्बेडकर के विचारों के अनुरूप ही साहित्य का सृजन कर रहा है। दलित साहित्यकार कंवल भारती ने लिखा है ''दलित वर्गों के लोग डॉ० अम्बेडकर को इसलिए सम्मान देते हैं और इसलिए पूजते हैं कि उन्होंने दलितों को गुलामी का अहसास कराया था और उनकी मुक्ति की लड़ाई लड़ी। यह वह महान कार्य था जो किसी हिन्दू नेता ने नहीं किया था।''4

दलित साहित्य की मूल प्रेरणा अम्बेडकरवादी चिन्तन है। डॉ० अम्बेडकर के जीवन और विचारधारा पर हिन्दी तथा मराठी दलित साहित्य में सबसे ज्यादा लिखा गया है। डॉ० अम्बेडकर ने दलितों के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन किया तथा उन्हें सत्ता, सम्मान और शिक्षा का लाभ प्राप्त कराया। अम्बेडकरवाद ही जातिभेद के अन्त का आधुनिक विचार है और विषमता को समाप्त करने का सशक्त अस्त्र है। जय प्रकाश कर्दम के अनुसार ''डॉ० अम्बेडकर का सपना एक सुदृढ़ समुन्नत और सुखी, सम्पन्न राष्ट्र का सपना था जिसमें सब समान हों तथा सब परस्पर प्रेम, सहयोग और बन्धुता के साथ रहें। कोई छोटा–बड़ा, ऊँचा–नीचा या छूत अछूत न हो। इसके लिए उन्होंने जाति विहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना की परिकल्पना की। इस तरह के समाज की रचना कैसे हो, यही उनके समग्र चिन्तन और सृजन का मूल विषय और आधार है। समाज, राजनीति, धर्म कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें डॉ० अम्बेडकर ने विचार और कार्य न किया हो।

वैचारिक रूप से वह राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र के, सामाजिक क्षेत्र में मानवतावाद के, आर्थिक क्षेत्र में समाजवाद के, धार्मिक क्षेत्र में बुद्धवाद के तथा दार्शनिक क्षेत्र में अन्तिम और अनात्मवाद के पक्षधर रहे। किसी भी प्रकार की असमानता और अन्याय का सदैव विरोध किया। 5

मराठी तथा हिन्दी दलित आत्मकथाओं एवं अन्य विधाओं की प्रेरणास्रोत डॉ० अम्बेडकर का जीवन, साहित्य और विचारधारा ही है। इसे सभी एकमत से स्वीकारते हैं। डॉ० एन० सिंह ने लिखा है–मराठी में दलित चेतना के उद्‌भव को कुछ लोग बुद्धकाल में तलाश करते हैं और कुछ लोग भक्ति साहित्य में और कुछ लोग महात्मा ज्योतिबा राव फुले के सामाजिक चिन्तन में। सत्य यह है कि दलित साहित्य की प्रेरणा का स्रोत डॉ० अम्बेडकर के विचार, विचारधारा और उनकी जीवन दृष्टि में है और उनके द्वारा दलित मुक्ति के उद्देश्य से शुरू किये गये मुक्ति के आन्दोलन में है। इनकी विचारधारा और जीवन की दृष्टि के पीछे भगवान बुद्ध तथा महात्मा फुले के विचार हैं जिसे उन्होंने विरासत के रूप में पाया।''6

साहित्य की अन्य विधाओं की भांति हिन्दी दलित आत्मकथा लेखन पर भी मराठी आत्मकथाओं का प्रभाव है। मराठी में फुले और डॉ० अम्बेडकर हुए इसीलिए मराठी में दलित साहित्य का लेखन सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ। यहाँ के युवकों ने संगठित होकर संघर्ष किया जबकि अन्य प्रदेश के दलित युवकों ने ऐसा आन्दोलन नहीं चलाया। मराठी में दलित युवकों का आन्दोलन डॉ० अम्बेडकर के विचार से प्रभावित था इसीलिए मराठी दलित साहित्य सैलाब की तरह व्यक्त हुआ। यहाँ के युवकों के लेखन का तेवर तीखा रहा है। 1960 से 1990 के दशक में अन्य भाषा की तुलना में मराठी दलित साहित्य अनेक विधाओं में ज्यादा लिखा गया तथा चर्चा का केन्द्र बिन्दु रहा। सबसे सशक्त रूप में मराठी दलित आत्मकथाएं आती है। उनका अन्य भाषाओं में अनुवाद भी होने लगा। अछूत, अक्करमाशी, जीवन हमारा, उपरा, छोरा कोल्हाटी का, उचक्का, पराया, उठाईगीर, डेरा डंगर, यादों के पंछी, तराल अन्तराल, धूल का पंछी, यादों के पंक्षी आदि दलित लेखकों ने आत्मकथाएं लिखी। ये मराठी आत्मकथाएं चर्चित रही तथा मराठी आत्मकथा के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुई हैं। मराठी की दलित आत्मकथाएं हिन्दी में ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में चर्चित और लोकप्रिय होने लगी। मराठी में दलित आत्मकथाएं काफी विकसित हुई हैं। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी मराठी दलित आत्मकथाओं का अधिक हुआ। दलित साहित्य को जितनी व्यापकता मराठी में मिली है उतना अन्य भाषाओं में नहीं दिखाई पडती है। इन आत्मकथाओं में दलित अस्मिता पर जोर दिया गया है। जाति आधारित समाज व्यवस्था के शोषण, अन्याय, अत्याचार, अवमानना के तरीकों को, परम्पराओं के इतिहास को मराठी दलित आत्मकथाओं में उजागर किया गया है। लेखक के साथ दलित समाज पर होने वाले अत्याचारों एवं शोषण की कथा व्यथा का चित्रण है। शरण कुमार लिम्बाले का मानना है कि दलित आत्मकथा में दलित चेतना ही प्रमुख है। ष्आत्मकथा के संदर्भ में दलित चेतना प्रेरणा का काम करती है। दलित लेखक का लेखन प्रयोजन स्पष्ट है, वह सहानुभूति नहीं चाहता। उसके अनुभव व्यक्ति के होने के बावजूद प्रतिनिधिक हैं। वह समाज को ही आवाज देता है। समाज की ही आवाज होती है। विषम सामाजिक व्यवस्था और उसके शोषण के तरीकों को बेनाक कर देता है।''7

सभी दलित आत्मकथाओं के लेखन में लेखकों ने सदियों से थोपी गयी अमानुषिक शोषण पर सवाल खड़ा किया है।'' मुझ पर और मेरे समाज पर इस अमानुषता को क्यों लादा गया है? वे जिस दुःख को भोग रहे हैं उसे उन्हें दुनिया को बताना जरूरी लगता है। इस अमानुषता के खिलाफ उन्होंने लगातार संघर्ष किया है। स्वतन्त्रता, समानता और सामाजिक न्याय ही उसकी प्रधान प्रेरणाएं हैं। ये प्रेरणाएं ही उनकी ऊर्जा हैं।

दलित लेखक को अपने मानव जीवन को विद्रूप करने वाली समाज व्यवस्था के खिलाफ लगातार लड़ना पड़ता है।''8

निष्कर्षः– हिन्दी तथा हिन्दी में अनुदित मराठी दलित आत्मकथाओं की पड़ताल में मूल वैचारिकी अम्बेडकरवाद ही है। इन आत्मकथाओं की मूल प्रेरणा भी फुले और अम्बेडकर का चिन्तन है। इनके जीवन और विचारधारा ही इसकी आत्मा है। तुलनात्मक रूप से सभी दलित आत्मकथा लेखक गौतम बुद्ध, फुले और अम्बेडकर के विचार, संघर्ष और आन्दोलन से प्रभावित है। वर्चस्ववादी, वर्ण–व्यवस्था और हिन्दू सामाजिक संरचना का विरोधी स्वर इन आत्मकथाओं में है। सामाजिक विषमता, शोषण, यातना के प्रति विद्रोह और नकार है। अमानवीय शोषणकारी रूपों की पहचान कर उस पर चोट की गयी है। समानता, स्वतन्त्रता और भाईचारा का समर्थन है। सदियों से थोपी गयी अमानुषिक शोषण पर सवाल खड़ा किया गया है तथा शोषण के तरीकों को बेनकाब किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से मराठी लेखकों का स्वर हिन्दी आत्मकथा लेखकों की अपेक्षा तीखा रहा है। दलित लेखन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष आत्मकथा लेखन है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2015, पृ०–53
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करणः 2013, पहली आवृत्ति 2013, पृ०–59, 60
3. हरिनारायण, कथादेश दलित साहित्य विशेषांक मासिक पत्रिका, सितम्बर 2019, अंकरू 7. दिलशाद गार्डन नई दिल्ली, पृ०–52
4. डॉ० एन० सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, आवृत्ति 2014, पृ०–52
5. वही, पृ०–237
6. वही, पृ०–87
7. डॉ० सूर्यनारायण रणसुभे, दलित चेतना की पहचान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, आवृत्ति 2014, पृ०–36
8. वही, पृ०–139

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

डिजिटल इंडिया और ग्रामीण भारत:एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

डॉ. दुर्गेश कुमार पांडेय
असिस्टेंट प्रोफेसर (समाजशास्त्र विभाग)
महाराज बलवंत सिंह पीजी कॉलेज गंगापुर वाराणसी

सारांश:

डिजिटल इंडिया (Digital India in Hindi) भारत सरकार की एक पहल थी जिसका उद्देश्य ऑनलाइन बुनियादी ढांचा तैयार करना, इंटरनेट कनेक्टिविटी का विस्तार करना और अंततः नागरिकों को ऑनलाइन सरकारी सेवाओं तक पहुंच प्रदान करना था। इसका लक्ष्य देश को डिजिटल प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में सशक्त बनाना भी था। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 1 जुलाई, 2015 को औपचारिक रूप से इस अभियान का शुभारंभ किया था। डिजिटल इंडिया के निर्माण का उनका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि सभी भारतीय नागरिकों को इंटरनेट की सुगम पहुंच प्राप्त हो। यह भारत को ज्ञान-आधारित क्रांति के लिए तैयार करने की एक व्यापक पहल है। यह विभिन्न अवधारणाओं और दृष्टिकोणों को एक व्यापक दृष्टि में समाहित करती है, जिनमें से प्रत्येक को एक बड़े उद्देश्य के घटक के रूप में माना जाता है। इसका शुभारंभ इलेक्ट्रॉनिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय द्वारा किया गया। इस कार्यक्रम ने वैसे तो भारत के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है लेकिन इसका जो दूरगामी प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों पर पड़ा है वो अकल्पनीय है। कृषक समुदाय पहले से ज्यादा आत्मनिर्भर हुआ है तथा अब सरकारी सेवाओं और योजनाओं का लाभ किसानों को ज्यादा बेहतर तरीके से मिल पा रही है लेकिन अपार संभावनाओं के साथ इस तकनीकी बदलाव ने कुछ चुनौतियां भी ग्रामीण भारत के समक्ष प्रस्तुत की है।

डिजिटल इंडिया मिशन में मूल रूप से तीन प्रमुख तत्व शामिल हैं:

1.ऐसा डिजिटल बुनियादी ढांचा तैयार करना जो सभी नागरिकों के लिए एक मूलभूत उपयोगिता की तरह काम करे।

2.शासन व्यवस्था और सार्वजनिक सेवाएं माउस के एक क्लिक पर उपलब्ध हैं।

3..डिजिटल दुनिया में सभी लोगों को सशक्त बनाना।

इसकी परिकल्पना इलेक्ट्रॉनिक सेवाओं, डिजिटल उत्पादों और विनिर्माण सहित समग्र विकास को समावेशी बनाने और रोजगार सृजित करने के व्यापक दृष्टिकोण के साथ की गई थी।

इस परिकल्पना को साकार करने के लिए, डिजिटल इंडिया नौ आवश्यक स्तंभों को सशक्त बनाता है जो विकास के प्रमुख क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक स्तंभ एक व्यापक कार्यक्रम है जिसमें आमतौर पर कई मंत्रालयों और विभागों के बीच समन्वय शामिल होता है। इन नौ स्तंभों का विवरण नीचे दिया गया है:

*.**ब्रॉडबैंड हाइवेज** : इसमें तीन प्रमुख तत्व शामिल हैं: ग्रामीण क्षेत्रों में सभी के लिए ब्रॉडबैंड, शहरी क्षेत्रों में सभी के लिए ब्रॉडबैंड और एनआईआई का विकास।

*.मोबाइल कनेक्टिविटी तक सार्वभौमिक पहुंच: इसमें कवरेज की कमियों को दूर करना और कनेक्टिविटी में सुधार करना शामिल होगा ताकि पूरे देश में मोबाइल नेटवर्क की पहुंच को बढ़ाया जा सके।

*.**सार्वजनिक इंटरनेट पहुंच कार्यक्रम**: इसमें दो प्रमुख तत्व शामिल हैं, अर्थात्, सामान्य सेवा केंद्रों (सीएससी) का विस्तार और डाकघरों को बहु-सेवा डिजिटल हब में परिवर्तित करना।

*.**ई-गवर्नेंस:** प्रौद्योगिकी के माध्यम से सरकार में सुधार - इस घटक में कार्यप्रवाह को सरल बनाने, प्रशासनिक दक्षता में सुधार करने और विभागों में प्रभावी सेवा वितरण सुनिश्चित करने के लिए डिजिटल उपकरणों और तकनीकों के उपयोग के माध्यम से सरकार की प्रक्रियाओं को फिर से डिजाइन करना शामिल है।

***.ई-क्रांति:** सेवाओं की इलेक्ट्रॉनिक डिलीवरी – ई-क्रांति प्रौद्योगिकी के उपयोग द्वारा सार्वजनिक सेवाओं तक आसान पहुंच पर जोर देती है। समय के साथ, भारत में ई-गवर्नेंस सरकारी कार्यालयों के मात्र कम्प्यूटरीकरण से विकसित होकर केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित अधिक उन्नत, नागरिक-केंद्रित और पारदर्शी सेवा तंत्रों में तब्दील हो गया है।

*.**सभी के लिए सूचना:** यह स्तंभ नागरिकों द्वारा सरकार द्वारा निर्मित सूचनाओं तक आसान पहुंच, पुन: उपयोग और साझाकरण के माध्यम से पारदर्शिता को बढ़ावा देता है।

*.**इलेक्ट्रॉनिक्स विनिर्माण:** इसका उद्देश्य आयात पर निर्भरता कम करने के लिए स्थानीय इलेक्ट्रॉनिक्स विनिर्माण को बढ़ाना है।

*.**आईटी फॉर जॉब्स:** इसका उद्देश्य आईटी और आईटी-आधारित सेवा क्षेत्रों में युवाओं के लिए आवश्यक रोजगार योग्य कौशल विकसित करना है।

*.**अर्ली हार्वेस्ट प्रोग्राम**: ये अल्पकालिक परियोजनाएं, जिनका कार्यान्वयन त्वरित होता है, भारत के डिजिटल पारिस्थितिकी तंत्र पर तत्काल प्रभाव डालती हैं। इनके उदाहरणों में मास-मैसेजिंग प्लेटफॉर्म, डिजिटल अभिवादन पहल, सरकारी कार्यालयों में बायोमेट्रिक उपस्थिति प्रणाली और विश्वविद्यालयों में वाई-फाई सुविधा शामिल हैं।

डिजिटल इंडिया का विजन—--

इसका उद्देश्य भारत को एक डिजिटल रूप से सशक्त समाज और ज्ञान अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करना है। इसका लक्ष्य प्रौद्योगिकी की शक्ति का लाभ उठाकर अधिक प्रभावी शासन और सेवा वितरण सुनिश्चित करना है। इस परिकल्पना का एक हिस्सा डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देना और इस प्रकार शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच डिजिटल विभाजन को कम करना है। इसमें तीन महत्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा: डिजिटल अवसंरचना, नागरिकों का डिजिटल सशक्तिकरण और डिजिटल सेवा वितरण।

डिजिटल इंडिया और ग्रामीण भारत में परिवर्तन: डिजिटल इंडिया कार्यक्रम ने ग्रामीण भारत में अनेक बदलाव किए हैं जिनका विवरण हम निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से देख सकते हैं

1.ग्रामीण शिक्षा में परिवर्तन-

डिजिटल तकनीक ने ग्रामीण शिक्षा प्रणाली को नई ऊर्जा दी है। पहले जहाँ ग्रामीण छात्र संसाधनों की कमी से जूझते थे, वहीं अब ऑनलाइन कक्षाएँ, डिजिटल पुस्तकालय और ई-लर्निंग प्लेटफॉर्म के माध्यम से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

कोविड-19 के समय DIKSHA पोर्टल और SWAYAM जैसे प्लेटफॉर्म ने छात्रों और शिक्षकों को ऑनलाइन शिक्षा से जोड़े रखा। इससे ग्रामीण छात्रों में डिजिटल जागरूकता भी बढ़ी है।

2.कृषि क्षेत्र में डिजिटल बदलाव—-

ग्रामीण भारत की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित है। डिजिटल इंडिया के तहत किसानों को मौसम की जानकारी, बीज और उर्वरक संबंधी सलाह तथा बाजार भाव की सूचना मोबाइल ऐप्स के माध्यम से मिलने लगी है।

3.eNAM (नेशनल एग्रीकल्चर मार्केट) ने किसानों को अपनी उपज सीधे राष्ट्रीय बाजार में बेचने का अवसर दिया है। इससे बिचौलियों की भूमिका कम हुई और किसानों की आय में वृद्धि की संभावना बढ़ी है।

4.स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार

डिजिटल तकनीक ने ग्रामीण स्वास्थ्य सेवाओं को भी मजबूत किया है। टेलीमेडिसिन के माध्यम से ग्रामीण मरीज शहरों के विशेषज्ञ डॉक्टरों से परामर्श ले सकते हैं।

5. Ayushman Bharat योजना और डिजिटल हेल्थ आईडी जैसी पहल से स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच और पारदर्शिता में वृद्धि हुई है। इससे गरीब और वंचित वर्ग को सस्ती और बेहतर चिकित्सा सुविधा मिल रही है।

6. डिजिटल बैंकिंग और वित्तीय समावेशन

डिजिटल इंडिया के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार हुआ है। जन-धन योजना, मोबाइल बैंकिंग और डिजिटल भुगतान प्रणाली ने लोगों को नकदी पर निर्भरता से मुक्त किया है।

7. प्रधानमंत्री जन धन योजना के तहत करोड़ों ग्रामीण नागरिकों के बैंक खाते खुले। इसके साथ ही Unified Payments Interface (UPI) ने डिजिटल लेन-देन को आसान और सुरक्षित बनाया है। आज गाँवों में भी दुकानदार QR कोड के माध्यम से भुगतान स्वीकार कर रहे हैं।

8.महिला सशक्तिकरण में भूमिका-

डिजिटल इंडिया ने ग्रामीण महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वयं सहायता समूह (SHG) अब ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से अपने उत्पाद बेच रहे हैं। महिलाएँ डिजिटल साक्षरता कार्यक्रमों के माध्यम से कंप्यूटर और इंटरनेट का उपयोग सीख रही हैं, जिससे वे रोजगार और स्वरोजगार के अवसरों से जुड़ रही हैं।

9.प्रशासन में पारदर्शिता और सुशासन—

ई-गवर्नेंस के माध्यम से सरकारी योजनाओं का लाभ सीधे लाभार्थियों के बैंक खातों में पहुँच रहा है। इससे भ्रष्टाचार में कमी आई है और पारदर्शिता बढ़ी है। आधार आधारित प्रमाणीकरण और ऑनलाइन सेवाओं ने ग्रामीण नागरिकों के समय और धन दोनों की बचत की है।

चुनौतियाँ

हालाँकि डिजिटल इंडिया ने ग्रामीण भारत में व्यापक परिवर्तन किए हैं, फिर भी कुछ चुनौतियाँ मौजूद हैं—

इंटरनेट कनेक्टिविटी की कमी

डिजिटल साक्षरता का अभाव

बिजली आपूर्ति की समस्या

साइबर सुरक्षा के खतरे

इन चुनौतियों को दूर करने के लिए निरंतर प्रयास और जन-जागरूकता आवश्यक है।

निष्कर्ष

डिजिटल इंडिया केवल एक सरकारी कार्यक्रम नहीं, बल्कि एक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का माध्यम है। इसने ग्रामीण भारत को नई पहचान दी है और विकास की मुख्यधारा से जोड़ा है। शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य और बैंकिंग जैसे क्षेत्रों में आए बदलावों ने ग्रामीण जीवन को सरल और सशक्त बनाया है।

यदि डिजिटल अवसंरचना को और मजबूत किया जाए तथा प्रत्येक ग्रामीण नागरिक को डिजिटल रूप से साक्षर बनाया जाए, तो वह दिन दूर नहीं जब भारत का प्रत्येक गाँव तकनीकी रूप से आत्मनिर्भर और समृद्ध होगा।

इस प्रकार, डिजिटल इंडिया ग्रामीण भारत के विकास की दिशा में एक ऐतिहासिक और क्रांतिकारी कदम सिद्ध हो रहा है।

सन्दर्भ) ग्रन्थ सूची-

- मीडिया विमर्श सितम्बर 2006 / फरवरी 2007।
- पारख, जवरीमल, जन संचार माध्यमों का सामाजिक चरित्र, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 1996
- मोहन, हर, रेडियों और दूरदर्शन पत्रकारिता, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
- भानावत , संजीव, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम विश्वविद्यालय प्रकाशन, जयपुर, 2000
- चोपड़ा लक्ष्मेन्द्र,जनसंचार का समाजशास्त्र आधार प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, 2002।
- हिन्दुस्तान वाराणसी संस्करण 15 फरवरी 2025 पृष्ठ संख्या 24।
- अमर उजाला,वाराणसी संस्करण, 5 दिसम्बर 2024,पृष्ठ संख्या 10।

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

भारतीय ज्ञान परम्परा : सा विद्या या विमुक्तये

अमरनाथ
असि0 प्रोफे0– समाजशास्त्र
राजकीय महाविद्यालय डुमरियागंज, सिद्धार्थनगर
Email: amarnath5578@gmail.com

सारांश :
भारतीय ज्ञान परम्परा विश्व की सबसे प्राचीन, समृद्ध और गहन चिन्तन पर आधारित परम्पराओं में से एक है, इस परम्परा में शिक्षा को केवल भौतिक ज्ञान या आजीविका प्राप्त करने का साधन नहीं माना गया, बल्कि इसे मानव जीवन के समग्र विकास का आधार समझा गया है। भारतीय मनीषियों ने ज्ञान को आत्मा के उत्थान, नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम माना है। विष्णु पुराण में वर्णित "सा विद्या या विमुक्तये" यह स्पष्ट करता है कि वही विद्या वास्तविक है, जो मनुष्य को अज्ञान, मोह, भय और सांसारिक बंधनों से मुक्त करे, यहाँ 'विमुक्ति' का अर्थ केवल मोक्ष नहीं, बल्कि मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा शिक्षा को एक ऐसे साधन के रूप में प्रस्तुत करती है, जो व्यक्ति को न केवल विद्वान बनाती है, बल्कि उसे एक श्रेष्ठ, सजग और उत्तरदायी नागरिक बनाती है। यही कारण है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली में ज्ञान आचरण और संस्कार तीनों का समन्वय के रूप में प्रस्तुत करती है। वेदों में दार्शनिक एवं व्यावहारिक ज्ञान दोनों शामिल है। ऋग्वेद में गुरु को आत्मज्ञान का स्रोत और प्रेरक, व्यक्तिगत विकास की आधारशिला के रूप में वर्णित किया गया है। भारतीय ज्ञान परम्परा में विद्या को सत्य की अनुभूति माना गया है। इसमें व्यक्ति मनुष्य और उसके जीवनार्थ को ऋण, ऋणशोधन, पुरुषार्थ, कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्तों की सहायता से परिभाषित किया गया है।

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्त्रर मेव च।
अज्ञान हृदय ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।

मुख्य शब्द– भारतीय ज्ञान परम्परा, प्राचीन, गहन चिन्तन, मनीषी, नैतिक मूल्य, सा विद्या या विमुक्तये, मोक्ष, अध्यात्मिक, शिक्षा प्रणाली, ऋण शोधन, उपनिषद आयुर्वेद, गुरु शिष्य परम्परा, यज्ञ आदि।

'भारतीय ज्ञान' काफी हद तक परम्परा पर आधारित है। मानव सभ्यता के उदय से ही परम्पराएं पीढ़ी दर पीढ़ी निरन्तर रूप से आगे बढ़ती रहीं, जो भारतीय सभ्यता को दुनिया की सबसे पुरानी जीवित सभ्यता बनाती है। साथ ही परम्पराओं में सुधार भी होते रहे हैं और 'भारतीय ज्ञान' विकसित होता रहा है। भारतीय ज्ञान प्रणाली का पुनरुद्धार और अनुकूलन राष्ट्र की समृद्ध बौद्धिक विरासत को संरक्षित करने के साथ–साथ इसे आधुनिक समाज की मांगों के साथ क्रमबद्ध या समन्वित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस परम्परा को राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2020 ने एक व्यापक रूप रेखा प्रदान की है जो शैक्षिक पाठ्यक्रम में (आईकेएस) को शामिल करने के लिए प्रोत्साहित करती है, भारतीय शिक्षा व्यवस्था में प्रथमतः तो विद्यार्थी की केन्द्रियता ध्यान आकर्षित करती है जो सीखने के लिए एक समग्र और समावेशी दृष्टिकोण को बढ़ावा देने में इसके महत्व पर प्रकाश डालती है।

भारतीय ज्ञान का उद्देश्य व्यक्ति के समग्र विकास के लिए भौतिकवादी और आध्यात्मिक जीवन के लिए योग्य बनाना है। विष्णु पुराण कहता है 'सा विद्या या विमुक्तये'[1] इस प्रकार के ज्ञान का उद्देश्य (दुःख

और बन्धन से) मुक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। 'सा विद्या या विमुक्तये' का तात्पर्य है कि विद्या मुक्त करती है। क्योंकि इसमें शिक्षक के बजाय सीखने वाला केन्द्र में रहता है। 'विष्णु पुराण' के इस श्लोक में न केवल विद्या के वास्तविक महत्व को केन्द्र में रखा गया है, साथ ही यह जीवन के सभी पहलुओं का समावेश कर लेता है। इस श्लोक को पढ़ते ही सवाल उठते हैं; किसकी मुक्ति, किससे मुक्ति, किसलिए मुक्ति? और यह भी कि विद्या मुक्ति की प्रक्रिया क्यों है, वह किस प्रकार मुक्ति के प्रयोजन को पूरा करती है? भारतीय परम्परा की सभी धाराओं में विद्या की अवधारणा पर गहरा और विस्तृत विचार हुआ है। वैदिक, बौद्ध, जैन और अनन्तर पौराणिक और सिख समुदाय सभी मुक्ति, निर्वाण या कैवल्य आदि को जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। लेकिन वह बंधन क्या है? जिससे ये सभी मुक्त होना चाहते हैं? यह अविद्या से मुक्ति है जो वास्तविक बंधन या दुख का कारण है। अविद्या का वास्तविक तात्पर्य है किसी भी परिघटना के अन्तर्जात स्वरूप और प्रक्रिया को नहीं जान पाना। किसी भी वस्तु के धर्म को न जान पाना। धर्म किसी भी वस्तु का सारभूत या अन्तर्जात स्वरूप और प्रक्रिया है। सतह पर दिखाई देने वाली वास्तविकताएं भ्रान्ति या भ्रम नहीं होतीं। वे भी वास्तविक होती हैं, पर सारभूत नहीं। जैन दर्शन मानता है कि वास्तविकता के कई रूप और पहलू हो सकते हैं जिनकी जानकारी ज्ञान की विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से होती है। इन्हें मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय और कैवल्य कहा गया है।[2]

उपनिषदों के दर्शन के अनुसार भौतिक शब्द वास्तविक नहीं है, इसलिए भौतिक ज्ञान महत्वपूर्ण होते हुए भी विद्या नहीं है जबकि भौतिक ज्ञान को अविद्या नाम देते हुए ईशावास्मोपनिषद विद्या और अविद्या दोनों को सीखने पर जोर देता है। उसका मानना है कि केवल एक ही प्रकार के ज्ञान का ज्ञान खतरनाक है, लेकिन भौतिक ज्ञान की उपेक्षा करके अध्यात्मिक ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित करना ज्यादा खतरनाक है। यह सुझाव देता है कि मनुष्य को भौतिक ज्ञान की मदद से सुखी सांसारिक जीवन जीना चाहिए और आध्यात्मिक ज्ञान की मदद से अमर स्थान प्राप्त करना चाहिए। मुण्डक उपनिषद में विद्या को परा विद्या अविद्या को अपरा विद्या कहा गया है।

प्राचीन भारतीय केवल प्रलेखित ज्ञान पर निर्भर नहीं थें। प्रलेखित ज्ञान के क्षेत्र में वेद ज्ञान के सबसे पुराने ग्रन्थ हैं। संस्कृत में वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। इस प्रकार, आदर्श रूप से कोई भी ज्ञान वेद का ही हिस्सा है। हलाकि, विद्वानों की दृष्टि से वेद के ज्ञान को चार वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में प्रलेखित किया गया है। चार उपवेद भी हैं धनुर्वेद (धनुर्विद्या और युद्ध का अध्ययन), गंधर्ववेद (प्रदर्शन कलाओं का अध्ययन), आयुर्वेद (चिकित्सा का अध्ययन) एवं शिल्पवेद (वास्तुकला का अध्ययन)। वेदों में दार्शनिक एवं व्यावहारिक ज्ञान दोनों शामिल हैं। उपनिषद दार्शनिक शिक्षाओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और वेदों की अवधारणा को सरल भाषा में समझने के लिए पुराण लिखे गये हैं। पुराण में ज्ञान के कई रोचक रूप हैं जिसमें चिकित्सा, योग, संगीत, गणित एवं आदर्श आचार संहिता शामिल है।

दीर्घायु का ज्ञान– भारतीय ज्ञान परम्परा में आयुर्वेद का महत्वपूर्ण स्थान है आयुर्वेद का अर्थ है 'जीवन का विज्ञान' आहार, जीवन शैली और 'हर्बल' जड़ी बूटी उपचारों के माध्यम से शारीरिक तत्वों को संतुलित करने की अवधारणा पर आधारित है।

आयुर्वेद के सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि–

आयु अस्मिन् विद्यते, अनेन वा आयु विन्दीत रति आयुर्वेदः।

अर्थात् वह आयु इसमें है; अथवा आयु इसके द्वारा जानी जाती है अथवा आयु इसके द्वारा प्राप्त की जाती है, इसलिए यह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद का प्रायोजन– आयुर्वेद एक चिकित्सा विज्ञान। आयुर्वेद का प्रायोजन बताते हुए महर्षि अग्निवेश ने कहा है कि 'प्रयोजन चास्य स्वस्थस्य स्वास्थरक्षणम् आलस्स्य विकार प्रशमनं च।'[3]

स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं रोगी के रोग का उन्मूलन इसका प्रयोजन है।

आयु का लक्षण बताते हुए महर्षि अग्निवेश ने कहा है–

'शरीरेन्द्रिय सत्गात्यसंयोगो धारि जीवितम्।

नित्य गश्वानुबंधश्च पर्यामैरायुरुच्यते।।'[4]

अर्थात् पंच भौतिक शरीर, चक्षुरादि इन्द्रियाँ मन और आत्मा–इनका संयोग जिस किसी पुरुष में जितने समय तक रहता है उतने समय तक ही उस पुरुष की आयु होती है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में स्वस्थ रहने हेतु दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि का वृहद वर्णन किया गया है। साथ ही शरीर का शोधन एवं संशमन चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

भारतीय संस्कृति में गुरु–शिष्य परम्परा एक प्राचीन परम्परा है जिसमें गुरु शिष्य को ज्ञान प्रदान करता है और इसकी जड़े वैदिक काल से हैं। ऋग्वेद में गुरु को 'आत्मज्ञान का श्रोत और प्रेरक, व्यक्तित्व विकास की आधारशिला के रूप में वर्णित किया गया है। भारतीय परम्परा में विद्या सत्य की सूचनात्मक जानकारी नहीं है, वह सत्य की अनुभूति करना है। शंकराचार्य जैसे महान तर्कशास्त्री भी अन्ततः अनुभूति को ही वास्तविक ज्ञान स्वीकार करते हैं। लेकिन जानने की कोई भी प्रकार मूलतः जानने वाले अर्थात् ज्ञाता की स्थिति और मनोरचना पर निर्भर करता है। इसलिए वास्तविक ज्ञान के लिए स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जानना एक पूर्व शर्त हो जाती है। इसलिए भारतीय विद्या–प्रक्रिया का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य अपने सभी स्तरों एवं आयामों के साथ स्वयं की सारभूति प्रकृति या धर्म को जानना है।

भारतीय परम्परा एक व्यक्ति मनुष्य और उनके जीवनार्थ को ऋण, ऋण शोधन, पुरुषार्थ, कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्तों की सहायता से परिभाषित करती है। हर मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए अन्य का ऋणी है पितृ ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण मनुष्य ऋण एवं भूत ऋण, जिनका तात्पर्य अन्य मनुष्यों अर्थात् समाज और मानवेत्तर अस्तित्व व प्रकृति का ऋण है जिनके बिना हमारा अस्तित्व सम्भव नहीं है।[5]

समग्रतः एक मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए न केवल अपनी वंश–परम्परा, ज्ञान परम्परा, दैवी शक्तियों, अन्य मनुष्यों का ऋणी है बल्कि साथ ही प्रकृति, अन्य जीवन रूपी और पर्यावरण का भी। इन ऋणों का शोधन किस प्रकार हो सकता है। भारतीय परम्परा में इसके लिए पंच महायज्ञों का विधान किया गया है।[6] ये महायज्ञ सामान्य यज्ञों की तरह कोई अनुष्ठान नहीं है बल्कि बिना किसी अनुष्ठान के सामान्य मनुष्यों से अपेक्षित कर्त्तव्य है। जिसका, पालन कर मनुष्य, अपने ऋणों से उऋण हो सकता है। ये पाँच महायज्ञ हैं– पितृयज्ञ (वंश परम्परा का निर्वाह परिवार पालन और पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण), देव यज्ञ–(दैवी शक्तियों का स्मरण), ब्रह्म यज्ञ (ज्ञान परम्परा का विस्तार एवं विकास), मनुष्य यज्ञ–(जरूरतमन्दों की सहायता तथा भूत यज्ञ (प्रकृति एवं मानवेत्तर प्राणियों का हित्–साधना)। ऋण शोधन एवं पंच महायज्ञों की अवधारणाओं से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति मनुष्य के रूप में अन्य व्यक्तियों से पृथक नहीं है– वह समग्र अस्तित्व में व्याप्त अन्तः सम्बन्धों का एक अंश है। इसलिए अन्य के साथ किसी भी प्रकार की पृथकता का बोध अविद्या है, जबकि अपने अस्तित्व के अनुभव के साथ–साथ अन्य से अपृथकता का यह बोध ही विद्या कहा जा सकता है। ज्ञान या विद्या ज्ञाता और ज्ञेय का संयोग एकत्व है। यही प्रत्येक का स्वधर्म है जो मुक्ति की ओर ले जाता है "गीता में स्वधर्म की अवधारणा की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द कहते हैंः बालक की शिक्षा का प्रायोजन उसमें जो कुछ सर्वोत्तम, समर्थतम अन्तरंगतम और जीवन्त है, उसे अभिव्यक्त करने में

समर्थ बनाना है, किसी भी मनुष्य का जीवन और क्रियाशीलता उसमें निरन्तर अन्तर्जात गुणों और सामर्थ्य के अनुसार होना चाहिए। उसे नवीनतम को प्राप्त करना चाहिए, अपने विकसित रूप और अन्तर्जात के अनुसार ही इसके सर्वोत्तम की प्राप्ति की जा सकती है क्योंकि मनुष्य के क्रियाशीलताएं उसके स्वभाविक गुणों और योग्यताओं से निर्धारित होती है। जो व्यक्ति इस तरह अपना स्वतंत्र विकास करता है वह एक जीवन्त आत्म और मनस (अन्तकरण) हो सकेगा तथा मानव जाति की सेवा के लिए अधिक शक्ति संचय कर सकेगा।[7] इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द स्पष्ट कहते हैं– "आन्तरिक सत्य, न कि वाह्य रूपों पर इस आग्रह से वह आध्यात्मिक महत्ता और सामर्थ्य प्राप्त होती है जिन्हें गीता स्वधर्म के पालन के लिए आवश्यक मानती है।[8]

ऋणों से उऋण होने के इस दायित्व के साथ ही प्रत्येक मनुष्य भी कुछ जैविक–मनोवैज्ञानिक, सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक–आध्यात्मिक आवश्यकताएं एवं आकांक्षाएं भी होती हैं और एक सुखी–सम्पन्न, परिपूर्ण मुक्त जीवन के लिए इनकी पूर्ति भी आवश्यक होती है, इसलिए कोई भी शिक्षा व्यवस्था इसकी अवहेलना नहीं कर सकती। इन आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं को पुरुषार्थ सिद्धान्त चार श्रेणियों–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में रखता है। इन्हें जीवन मूल्य की संज्ञा दी गयी है। धर्म किसी सामाजिक–सम्बन्धों के विधान का मूल है क्योंकि न्याय और पारस्परिका के अभाव में कोई भी समाज टिका नहीं रह सकता। जॉन रॉल्स का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि न्याय किसी भी सामाजिक व्यवस्था का प्रथम गुण है, समाज में कुछ प्रतिस्पर्धा, विवाद आदि होंगे ही, लेकिन किसी भी स्थिति में कुछ मर्यादाओं और आचरण संहिता के उल्लंघन की अनुमति नहीं दी जा सकती। अपने काम और अर्थ पुरुषार्थ की उपलब्धि करते हुए प्रत्येक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अन्य मनुष्यों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं का सम्मान करेगा तथा उसकी उपलब्धि में सहायता भी करेगा। शिक्षा वह प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से पारस्परिकता और न्याय के प्रति सम्मान का बोध विकसित किया जा सकता है।

परम्परागत शिक्षा को तीन चरणों में विभाजित किया गया था– श्रवण, मनन और निदिध्यासन। पहले चरण में विद्यार्थी को गुरु का प्रवचन सुनना होता था (वर्तमान में हम उसमें पाठ्य पुस्तक या सामग्री को शामिल कर सकते हैं।) दूसरे चरण में उस पर स्वयं विचार करना तथा समस्याओं को स्वयं या गुरु की सहायता से सुलझाना तथा तीसरे चरण में अध्यापक के सम्मुख प्रश्न प्रस्तुत करने वाद–विवाद संवाद को बहुत महत्व दिया गया है। किसी भी विषय का अध्ययन हो, विद्यार्थी को अपने सभी अध्ययनेत्तर दायित्वों का निर्वाह तो करना ही होना था। तभी उसकी शिक्षा को संतोषप्रद स्तर पर पूर्ण माना जा सकता था और तभी वह अपने काम और अर्थ पुरुषार्थ को उपलब्ध करते हुए मोक्ष के साधना–पथ पर अग्रसर हो सकता था।

मोक्ष या मुक्ति की अवधारणा

'मोक्षम्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तर मेव च।

अज्ञान हृदय ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।[9]

अर्थात् "मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है तो किसी एक स्थान में रखी हो अथवा यह भी नहीं कि उसकी प्राप्ति के हेतु किसी दूसरे गाँव या प्रदेश में जाना पड़े वास्तव में हृदय की ग्रन्थि के नाश हो जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में "चरित्र निर्माण और शैक्षिक विकास सहयात्री बताये गये हैं। विद्यार्थी की नैतिक संस्कृति से उसकी बौद्धिक संस्कृति का पार्थक्य सम्भव नहीं है।"[10]

टैगोर, महात्मा गांधी, जे0 कृष्णमूर्ति आदि के शैक्षिक प्रयोग एक सीमा तक इस बात की याद दिलाते हैं कि किसी भी प्रकार की शिक्षा का परम प्रयोजन बंधन मुक्ति ही है– सामाजिक आर्थिक बन्धनों से

लेकर सांस्कृतिक अध्यात्मिक बन्धनों तक से मुक्ति। केवल तभी उस वास्तविक स्वराज को पाया जा सकता है, जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक का अभेद प्रकाशित हो सकेगा।

मनुष्य को जीवन के हर चरण में चाहे वह विद्यार्थी हो, गृहस्थ हो या समाज में स्थापित निरन्तर अध्ययन (सीखना) और ज्ञान का प्रसार करते रहना चाहिए। मनुष्य का सच्चा विकास तभी है जब वह खुद भी आगे बढ़े और दूसरों को भी आगे बढ़ाए।

"जीवन भर सीखना और सिखाना ही मनुष्य का कर्तव्य है।"[11]

निष्कर्षः– वही विद्या सच्ची है जो मनुष्य को अज्ञान, बन्धन और दुःख से मुक्त कर दे और उसे श्रेष्ठ जीवन की ओर ले जाए। भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य केवल धन या रोजगार या सूचना प्राप्त करना ही नहीं बल्कि आत्मिक और नैतिक विकास करना है सच्ची शिक्षा व्यक्ति में विवेक, चरित्र और जिम्मेदारी का विकास करती है। ऐसी विद्या मनुष्य को सही मार्ग दिखाती है और उसे श्रेष्ठ जीवन जीने के योग्य बनाती है। इसलिए ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति और आत्मोन्नति है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. विष्णु पुराण, 1.19.41.
2. राधाकृष्णन एस; इण्डियन फिलॉसफी खण्ड–1, पृ0 295.
3. चरक संहिता–30/20.
4. चरक सूत्र स्थायी– 1/42.
5. शतपथ ब्राह्मण 1/7/2/1–6.
6. काणे पी0वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास खण्ड–1 (सम्बन्धित अध्याय)।
7. अरविन्द श्री "एक्सेज ऑन गीता" पृष्ठ–517.
8. अरविन्द श्री "एक्सेज ऑन गीता" पृष्ठ–515.
9. शिवगीता–दशम अध्याय।
10. प्रभु पी0एच0 सोशल आर्गेनाइजेशन, पृष्ठ–126.
11. तैतिरीय उपनिषद–शिक्षावल्ली भाग–11वे अनुवादक (दीक्षांत उपदेश)।

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

भारतीय समाज में महिला सशक्तिकरण : चुनौतियां और संभावनाएं

डॉ आदित्य कुमार,
सहायक आचार्य (समाजशास्त्र)
शहीद स्मारक राजकीय महाविद्यालय
युसूफपुर, गाजीपुर

सारांश

भारतीय समाज में महिला सशक्तिकरण एक महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रतीक है। प्राचीन भारतीय परंपराओं में नारी को सम्मान और शक्ति का रूप माना गया, लेकिन समय के साथ कई सामाजिक रीतियाँ और पितृसत्तात्मक संरचनाएँ महिलाओं के विकास में बाधक बन गईं स्वतंत्रता के बाद संविधान ने महिलाओं को समानता, स्वतंत्रता और गरिमा जैसे मौलिक अधिकार प्रदान किए, जिससे उनके विकास की दिशा में ठोस आधार तैयार हुआ। आज महिलाएँ शिक्षा, रोजगार, विज्ञान, तकनीक, खेल और प्रशासन जैसे क्षेत्रों में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हासिल कर रही हैं, जो समाज में सकारात्मक बदलाव का संकेत देती हैंइसके बावजूद, महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया पूरी तरह सुगम नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा की कमी, बाल विवाह, दहेज, घरेलू हिंसा और लैंगिक भेदभाव जैसी बाधाएँ अब भी मौजूद हैं। कार्यस्थल पर असमान वेतन, सुरक्षा संबंधी चुनौतियाँ और निर्णय-making पदों पर कम प्रतिनिधित्व भी महिलाओं की प्रगति को प्रभावित करता है। डिजिटल दुनिया में भी कई महिलाएँ तकनीकी संसाधनों की कमी और ऑनलाइन सुरक्षा समस्याओं से जूझती हैंइन चुनौतियों के बीच संभावनाएँ भी मजबूत हैं। सरकारी योजनाएँ, स्वयं सहायता समूह, डिजिटल प्लेटफॉर्म, शिक्षा का विस्तार और परिवारों में बढ़ती जागरूकता महिलाओं को आत्मनिर्भर और सक्षम बना रही है। महिलाओं का बढ़ता नेतृत्व समाज में नई ऊर्जा और संवेदनशीलता ला रहा है। इसलिए महिलाओं की प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज में लैंगिक समानता, सुरक्षा और अवसरों को और मजबूत किया जाए, ताकि वे राष्ट्र-निर्माण में अपनी पूर्ण क्षमता के साथ योगदान दे सकें।

मुख्यशब्द-सशक्तिकरण,समता,शिक्षा,आत्मनिर्भरता, अवसर, सुरक्षा

प्रस्तावना

भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में महिला सशक्तिकरण का प्रश्न केवल सामाजिक आवश्यकता नहीं, बल्कि राष्ट्रीय विकास का केंद्रीय आधार है। भारतीय सभ्यता की प्राचीन धारा में नारी को आदर, प्रतिष्ठा और शक्ति का स्वरूप माना गया है। वेदों और उपनिषदों में नारी को ज्ञान, धैर्य और सृजन की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है; गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषियाँ इसका प्रमाण हैं। मध्यकाल में सामाजिक संरचनाओं, आक्रमणों और कठोर परंपराओं ने महिलाओं को कई सीमाओं में बाँध दिया, जिससे शिक्षा, संपत्ति-अधिकार, सामाजिक स्वतंत्रता और सार्वजनिक जीवन में सहभागिता कम होती गई। आधुनिक काल में जब भारतीय समाज जागरण के मार्ग पर अग्रसर हुआ, तब राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले जैसे सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान और अधिकारों की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। स्वतंत्रता आंदोलन में भी महिलाओं की सक्रिय उपस्थिति दिखाई दी—अनेक महिलाओं ने अपने त्याग, नेतृत्व और जागरूकता से राष्ट्र को नई दिशा दी। स्वतंत्र भारत के संविधान ने महिलाओं को पूर्ण समानता, गरिमा, स्वतंत्रता और संरक्षण प्रदान किया। फिर भी सामाजिक सोच, आर्थिक संरचनाओं, परंपरागत मान्यताओं और पितृसत्तात्मक मूल्यों के कारण इन संवैधानिक अधिकारों को व्यवहारिक रूप में स्थापित करना आज भी एक चुनौती बना हुआ है। इसलिए महिला सशक्तिकरण का मुद्दा

केवल कानूनों के निर्माण का नहीं, बल्कि समाज की मानसिकता, परिवार की भूमिका और व्यक्ति के दृष्टिकोण में गहरे परिवर्तन का विषय है।

वर्तमान समय में भी भारतीय महिलाओं के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियाँ मौजूद हैं, जो उनके समग्र विकास और आत्मनिर्भरता की राह में बाधा बनती हैं। एक ओर शहरी क्षेत्रों में महिलाएँ शिक्षा, रोजगार, उद्यमिता और नेतृत्व के अवसर प्राप्त कर रही हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में परिस्थितियाँ बहुत भिन्न हैं। वहाँ आज भी बाल विवाह, दहेज-प्रथा, घरेलू और सामाजिक हिंसा, लैंगिक भेदभाव और परंपरागत रूढ़ियाँ महिलाओं की प्रगति को सीमित करती हैं। शिक्षा में असमानता के कारण लड़कियों का स्कूल छोड़ना, उच्च शिक्षा तक न पहुँच पाना और कौशल प्रशिक्षण की कमी—ये सभी समस्याएँ उनके आर्थिक सशक्तिकरण को प्रभावित करती हैं। कार्यस्थल पर वेतन-अंतर, सुरक्षा का अभाव, उत्पीड़न और नेतृत्व-भूमिकाओं में कम प्रतिनिधित्व भी प्रमुख चुनौतियाँ हैं। तकनीकी दुनिया में भी महिलाओं की भागीदारी सीमित है; डिजिटल गैप के कारण वे सूचना, अवसरों और नवाचारों से दूर रह जाती हैं। सोशल मीडिया के विस्तार के साथ साइबर स्टॉकिंग, ऑनलाइन बदसलूकी और पहचान-आधारित भेदभाव का बोझ भी बढ़ा है। इसके साथ-साथ स्वास्थ्य, पोषण, मातृ-देखभाल, संपत्ति-अधिकार और निर्णय-निर्माण में सीमित भागीदारी जैसी चुनौतियाँ अभी भी गहरी हैं। इन समस्याओं की जड़ें केवल सामाजिक नहीं, बल्कि आर्थिक, सांस्कृतिक और संरचनात्मक हैं, जिनका समाधान व्यापक और दीर्घकालिक प्रयासों से ही संभव है। इस प्रकार महिला सशक्तिकरण की चुनौतियाँ बहुआयामी हैं—व्यक्ति, परिवार, समुदाय, संस्थाओं और शासन—सभी स्तरों पर।

इसके बावजूद, इन चुनौतियों के बीच भारत में महिला सशक्तिकरण के व्यापक और आशाजनक अवसर भी लगातार बढ़ रहे हैं। शिक्षा के प्रसार, तकनीकी पहुँच और सरकारी योजनाओं ने महिलाओं को समाज में नई पहचान, क्षमता और आत्मविश्वास प्रदान किया है। 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' अभियान ने लैंगिक संवेदनशीलता बढ़ाई है, जबकि 'उज्ज्वला योजना' ने स्वास्थ्य और गरिमा के स्तर पर महिलाओं को बड़ा लाभ दिया है। स्वयं सहायता समूहों (SHGs) ने ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक रूप से मजबूत किया है, जिससे वे बचत, ऋण और छोटे व्यवसायों के माध्यम से आत्मनिर्भर बन रही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में पंचायतों और स्थानीय शासन में आरक्षण ने महिलाओं को नेतृत्व का मंच दिया, जहाँ वे न केवल निर्णय ले रही हैं, बल्कि विकास योजनाओं को प्रभावी ढंग से लागू भी कर रही हैं। खेल, विज्ञान, अंतरिक्ष, सेना, प्रशासन और साहित्य में महिलाओं की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ समाज के मानसिक परिवर्तन को गति दे रही हैं। डिजिटल क्रांति ने भी महिलाओं को घर बैठे शिक्षा, रोजगार, मार्केटिंग और कौशल विकास के अनेक अवसर प्रदान किए हैं। सामाजिक स्तर पर परिवारों में सोच में आ रहा बदलाव—लड़कियों की शिक्षा पर बढ़ता निवेश, करियर चुनने की आज़ादी और बेटियों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण—ये सभी संकेत बताते हैं कि भारत महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तनकाल से गुजर रहा है। यदि भविष्य में शिक्षा को और मजबूत किया जाए, कार्यस्थलों को सुरक्षित बनाया जाए, समान अवसर सुनिश्चित किए जाएँ और महिलाओं को सम्मानजनक वातावरण प्रदान किया जाए, तो वे न केवल स्वयं सशक्त होंगी बल्कि राष्ट्र की प्रगति और समृद्धि में प्रमुख भूमिका निभाएँगी। इस प्रकार भारतीय समाज में महिला सशक्तिकरण चुनौतियों और संभावनाओं के इस संगम में एक ऐसे भविष्य की ओर बढ़ रहा है, जहाँ महिलाएँ समाज के हर क्षेत्र में समान, स्वतंत्र और प्रभावी योगदानकर्त्री होंगी।

उद्देश्य

महिलाओं को शिक्षा, समान अधिकार, सुरक्षा, आर्थिक अवसर और निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान कर उन्हें आत्मनिर्भर, सम्मानित और समाज के हर क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी के योग्य बनाना है।

उपकल्पना

महिलाओं को समान अवसर, शिक्षा और सुरक्षा मिले, तो वे समाज के विकास में प्रभावी, स्वतंत्र और नेतृत्वकारी भूमिका निभाएँगी।

महत्व

महिला सशक्तिकरण का महत्व किसी भी समाज के समग्र विकास और प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि महिलाएँ जनसंख्या का लगभग आधा भाग होती हैं और उनका विकास सीधे-सीधे परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति से जुड़ा होता है। जब महिलाएँ शिक्षित, सुरक्षित और आत्मनिर्भर होती हैं, तब वे अपने निर्णय स्वयं लेने में सक्षम बनती हैं और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, राजनीति, प्रशासन और विज्ञान—में सक्रिय योगदान दे पाती हैं। एक सशक्त महिला अपने परिवार, बच्चों और समुदाय को अधिक अच्छे ढंग से मार्गदर्शन दे सकती है, जिससे भविष्य की पीढ़ी अधिक जागरूक, संवेदनशील और प्रगतिशील बनती है। इसके अतिरिक्त, महिला सशक्तिकरण से समाज में लैंगिक समानता को बढ़ावा मिलता है, जिससे भेदभाव कम होता है और एक सम्मानपूर्ण सामाजिक वातावरण विकसित होता है। जब महिलाओं को गरिमा, सुरक्षा और समान अवसर मिलते हैं, तब वे अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग कर पाती हैं, जो आर्थिक उत्पादन, नवाचार और सामाजिक स्थिरता को मजबूत करता है। इस प्रकार महिला सशक्तिकरण केवल व्यक्तिगत उन्नति का नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक परिवर्तन का माध्यम है।आर्थिक दृष्टि से भी महिला सशक्तिकरण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि कार्यबल में महिलाओं की सहभागिता बढ़ने से आर्थिक वृद्धि की गति तेज होती है और राष्ट्र अधिक आत्मनिर्भर बनता है। महिलाएँ जब शिक्षा और कौशल प्रशिक्षण के माध्यम से उद्यमिता, व्यवसाय और तकनीकी क्षेत्रों में आगे बढ़ती हैं, तो वे न केवल स्वयं को बल्कि अनेक अन्य लोगों को भी रोजगार के अवसर प्रदान करती हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था में स्वयं सहायता समूहों, हस्तशिल्प, सूक्ष्म उद्योगों और कृषि से जुड़ी महिलाओं की भूमिका विकास का आधार बनती है। राजनीतिक और प्रशासनिक भागीदारी में वृद्धि से महिलाएँ समाज के वास्तविक मुद्दों—जैसे स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, घरेलू हिंसा, स्वच्छता और सामाजिक न्याय—पर अधिक संवेदनशील और प्रभावी निर्णय ले सकती हैं। इससे नीतियों में संतुलन आता है और विकास का लाभ समाज के हर वर्ग तक पहुँचता है। इसके साथ-साथ, सशक्त महिलाओं की उपस्थिति सामाजिक कुरीतियों का विरोध करती है और बदलती सोच के लिए प्रेरणा देती है, जिससे एक मजबूत, समान और प्रगतिशील समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार महिला सशक्तिकरण किसी राष्ट्र के वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह विकास को संतुलित, समावेशी और स्थायी बनाता है।

वर्तमान स्थिति

भारत में महिला सशक्तिकरण की वर्तमान स्थिति एक मिश्रित और परिवर्तनशील रूप में दिखाई देती है। एक ओर महिलाएँ शिक्षा, रोजगार, तकनीक, खेल, विज्ञान, प्रशासन और उद्यमिता के क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति कर रही हैं। उच्च शिक्षा में लड़कियों का नामांकन लगातार बढ़ रहा है और कई प्रतियोगी परीक्षाओं में भी उनका प्रदर्शन बेहतर हो रहा है। सरकारी पहलों जैसे "बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ", "स्टार्ट-अप इंडिया", "उज्ज्वला", "महिला शक्ति केंद्र", डिजिटल कार्यक्रमों और स्वयं सहायता समूहों ने महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। तकनीकी पहुँच बढ़ने से महिलाएँ ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल भुगतान, ई-कॉमर्स और कौशल आधारित कामों से जुड़कर अधिक आत्मनिर्भर बन रही हैं। राजनीतिक क्षेत्र में पंचायतों, नगर निकायों और राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी भी धीरे-धीरे बढ़ रही है, जिससे शासन में संवेदनशीलता और संतुलन आ रहा है। ये सभी संकेत बताते हैं कि भारत में महिला सशक्तिकरण की दिशा में सकारात्मक परिवर्तन जारी है। दूसरी ओर, चुनौतियाँ अभी भी गहरी और बहुआयामी हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, रोजगार और सुरक्षा से जुड़ी असमानताएँ बनी हुई हैं। कई महिलाएँ आज भी भेदभावपूर्ण सामाजिक मान्यताओं, सीमित अवसरों, वित्तीय निर्भरता और घरेलू जिम्मेदारियों के बोझ से जूझ रही हैं। कार्यस्थलों पर

सुरक्षा और समान वेतन से जुड़े मुद्दे पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं। डिजिटल दुनिया में भी कई महिलाओं को तकनीकी संसाधनों की कमी और ऑनलाइन सुरक्षा से जुड़ी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। निर्णय-निर्माण और नेतृत्व के उच्च पदों पर महिलाओं की उपस्थिति अभी भी अपेक्षाकृत कम है। इसके अतिरिक्त, बाल विवाह, घरेलू हिंसा और लैंगिक रूढ़ियाँ जैसे मुद्दे समाज के कई हिस्सों में आज भी मौजूद हैं, जो महिला सशक्तिकरण के मार्ग को धीमा करते हैं। इस प्रकार, वर्तमान स्थिति यह दर्शाती है कि जहाँ एक ओर प्रगति के अनेक नए रास्ते खुल रहे हैं, वहीं दूसरी ओर चुनौतियों का समाधान सामूहिक प्रयासों, जागरूकता और सामाजिक मानसिकता के परिवर्तन से ही संभव होगा।

चुनौतियां और संभावनाएं

महिला सशक्तिकरण की राह में भारत आज भी अनेक जटिल और गहरी चुनौतियों का सामना कर रहा है। सामाजिक स्तर पर पितृसत्तात्मक मान्यताएँ, बाल विवाह, दहेज-प्रथा और लैंगिक भेदभाव अब भी कई क्षेत्रों में महिलाओं की स्वतंत्रता और अवसरों को सीमित करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति के बावजूद ग्रामीण और आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की लड़कियों के स्कूल छोड़ने की दर आज भी चिंता का विषय है। आर्थिक क्षेत्र में भी महिलाएँ रोजगार के समान अवसर, उचित वेतन और सुरक्षित कार्यस्थल पाने के लिए संघर्ष करती हैं। नेतृत्व और निर्णय-निर्माण वाले पदों पर उनकी प्रतिनिधित्व संख्या कम है, जिससे नीतियों में महिला दृष्टिकोण का पूर्ण समावेश नहीं हो पाता। डिजिटल दुनिया में भी लैंगिक अंतर दिखाई देता है—कई महिलाएँ तकनीक, इंटरनेट और ऑनलाइन सुरक्षा से जुड़ी समस्याओं के कारण पीछे रह जाती हैं। इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य, पोषण, संपत्ति-अधिकार, घरेलू ज़िम्मेदारियों का असमान बोझ और सार्वजनिक स्थानों पर सुरक्षा की कमी जैसी चुनौतियाँ महिला सशक्तिकरण की गति को धीमा करती हैं। इन सभी समस्याओं की जड़ें सामाजिक मानसिकता, संसाधनों की कमी और अवसरों में असमानता से जुड़ी हैं, जिनके समाधान के लिए निरंतर प्रयास और संवेदनशीलता आवश्यक है।

इन चुनौतियों के बावजूद भारत में महिला सशक्तिकरण की संभावनाएँ अत्यंत व्यापक और आशाजनक हैं। शिक्षा का प्रसार, तकनीकी पहुँच और सरकारी योजनाएँ महिलाओं को नए अवसर प्रदान कर रही हैं। स्वयं सहायता समूह (SHGs) ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं को आर्थिक रूप से मजबूत बना रहे हैं, जिससे वे बचत, उद्यमिता और छोटे व्यवसायों के माध्यम से आत्मनिर्भर बन रही हैं। राजनीति में आरक्षण ने स्थानीय स्तर पर महिला नेतृत्व को बढ़ावा दिया है, जिससे न केवल महिलाओं की आवाज़ नीति-निर्माण में शामिल हो रही है, बल्कि समाज का दृष्टिकोण भी बदल रहा है। डिजिटल भारत अभियान ने महिलाओं को घर बैठे शिक्षा, रोजगार, ई-कॉमर्स और कौशल विकास तक पहुँच दी है। खेल, विज्ञान, कला, प्रशासन और सैन्य सेवाओं में महिलाओं की बढ़ती उपलब्धियाँ समाज में सकारात्मक प्रेरणा का स्रोत हैं। परिवारों में जागरूकता बढ़ने से लड़कियों की शिक्षा और करियर को समर्थन मिल रहा है। यदि समाज में लैंगिक समानता को मजबूत किया जाए, सुरक्षा और अवसरों को सुनिश्चित किया जाए तथा मानसिकता में परिवर्तन लाया जाए, तो महिलाएँ देश की उन्नति में और अधिक प्रभावी भूमिका निभा सकती हैं। इस प्रकार चुनौतियों के बावजूद महिला सशक्तिकरण की संभावनाएँ भारत को एक मजबूत, समावेशी और प्रगतिशील भविष्य की ओर ले जा रही हैं।

निष्कर्ष

भारतीय समाज में महिला सशक्तिकरण केवल एक सामाजिक सुधार का मुद्दा नहीं, बल्कि देश की समग्र प्रगति और विकास का अनिवार्य आधार है। आज महिलाएँ शिक्षा, तकनीक, प्रशासन, विज्ञान, खेल और उद्यमिता जैसे अनेक क्षेत्रों में अपनी क्षमता और नेतृत्व को सिद्ध कर रही हैं, जिससे स्पष्ट है कि अवसर और समर्थन मिलने पर महिलाएँ किसी भी क्षेत्र में उत्कृष्ट प्रदर्शन कर सकती हैं। इसके बावजूद, समाज के विभिन्न स्तरों पर अभी भी पितृसत्तात्मक सोच, लैंगिक भेदभाव, सुरक्षा की कमी, आर्थिक निर्भरता और रूढ़िगत मान्यताओं जैसी चुनौतियाँ मौजूद हैं, जो उनके पूर्ण विकास में बाधा बनती हैं। इन चुनौतियों का समाधान केवल कानूनों और योजनाओं

के माध्यम से ही नहीं, बल्कि समाज की सोच, परिवारों के दृष्टिकोण और सामूहिक व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन से संभव है।साथ ही, भारत में महिला सशक्तिकरण की संभावनाएँ अत्यंत व्यापक हैं। शिक्षा का प्रसार, डिजिटल पहुँच, सरकारी नीतियाँ, स्वयं सहायता समूह और बढ़ती जागरूकता महिलाओं को आत्मनिर्भर, सक्षम और सक्रिय नागरिक के रूप में उभरने का अवसर दे रही हैं। महिलाओं की उन्नति से न केवल परिवार मजबूत होता है, बल्कि समाज में समानता, संवेदनशीलता और न्याय की भावना भी विकसित होती है। इसलिए आवश्यक है कि महिलाओं को अवसर, सम्मान और सुरक्षा प्रदान करने की दिशा में निरंतर प्रयास किए जाएँ, ताकि वे अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग कर सकें। जब महिलाएँ सशक्त होती हैं, तब राष्ट्र अधिक समावेशी, प्रगतिशील और सुदृढ़ बनकर आगे बढ़ता है। यही महिला सशक्तिकरण का मूल संदेश और सार है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

सिंह, आर. (2018). भारतीय समाज में महिला सशक्तिकरण. नई दिल्ली: ज्ञान प्रकाशन।

शर्मा, मीरा. (2019). नारी और आधुनिक भारत. जयपुर: साहित्य भवन।

चौधरी, एस. (2020). लैंगिक समानता और सामाजिक परिवर्तन. वाराणसी: संस्कार पब्लिशर्स।

मिश्रा, डी. (2017). महिला शिक्षा: समस्याएँ और संभावनाएँ. लखनऊ: विद्या मंडल।

पटेल, एन. (2021). ग्रामीण भारत में महिलाओं की स्थिति. अहमदाबाद: लोक जागरण प्रकाशन।

जोशी, कुसुम. (2016). महिला अधिकार और भारतीय कानून. दिल्ली: लीगल स्टडीज पब्लिशिंग।

शुक्ला, पी. (2022). भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी. मुंबई: अर्थ प्रकाशन।

गुप्ता, ममता. (2015). नारीवाद: सिद्धांत और विमर्श. दिल्ली: साहित्य सागर।

Government of India. (2020). Women and Child Development Report. Ministry of Women and Child Development.

UNESCO. (2019). Gender Equality in Education: India Report. UNESCO Publishing.

NITI Aayog. (2021). Women Empowerment Index in India. भारत सरकार।

World Bank. (2018). Women in the Workforce: South Asia Report. World Bank Publications.

Pandey, S. (2016). महिला सुरक्षा और समाज. भोपाल: सामाजिक अध्ययन केंद्र।

Verma, R. (2022). Digital Literacy and Indian Women. नई दिल्ली: टेक इंडिया प्रकाशन।

National Family Health Survey (NFHS-5). (2021). India Report. Ministry of Health and Family Welfare.

United Nations. (2020). SDG Gender Equality Progress Report: India. United Nations Publications।

Saxena, A. (2017). महिलाएँ और स्थानीय शासन. जयपुर: नीति अध्ययन संस्थान।

Rajan, M. (2018). Women, Work and Social Change in India. Oxford University Press.

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

कामकाजी महिलाओं के परिवार और कार्य जीवन में संतुलन (एक समाजशास्त्री अध्ययन)

प्रियंका मौर्या
पी–एच0 डी0 (शोधार्थी) समाजशास्त्र
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी।

सारांश

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही धार्मिक मूल्यों, परंपरा, रूढ़ियों और संस्कृतियों आदि सभ्यताओं का प्रतीक केन्द्र माना जाता है ऐसा माना जाता है कि भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री व पुरुष को एक गाड़ी के दो पहियों के रूप में स्वीकार किया जाता है, एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है किंतु वर्तमान सामाजिक परिवेश में बढ़ती आधुनिकता, नगरीकरण और पश्चिमी सभ्यता ने महिलाओं की प्रस्थिति में अमूलचुल परिवर्तन लाया है अगर हम देखे तो पिछले कुछ वर्षों में महिलाओं की स्थिति केवल व केवल घरेलू कार्यों और बच्चों के पालन पोषण तक ही सीमित था, किंतु वर्तमान समय में महिलाएं पारिवारिक कार्यों के साथ–साथ पुरुषों के समान कार्य स्थल संबंधित कार्यों को बड़ी ही सरलता व संतुलन स्थापित कर दोहरी भूमिका का निष्पादन कर रही है। वर्तमान सामाजिक संरचना के जटिलता व कठिनाइयों के कारण उन्हें अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। वह इस दोहरी भूमिका के निर्वहन करने में असमर्थ महसूस कर रही हैं जिसकी वजह से उनमें अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक, चिड़चिड़ापन आदि स्वास्थ्य संबंधित समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में महिला कार्यभागिता दर लगभग 20% है जो कि वैश्विक औसत का लगभग 47% से भी काम है। यह देखा गया है कि महिलाएं कितना भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाए लेकिन पुरुषों की तुलना में लिंग पर आधारित पूर्वाग्रह हो असमानता पदोन्नति आदि असमानताओं का सामना आज भी करना पड़ रहा है। इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक व कार्य स्थल संबंधी जीवन में संतुलन बढ़ाने में विभिन्न कारकों को ज्ञात करना है और महिलाओं के प्रस्तुति संबंधित कार्य और असामान्य समस्याओं को उत्पन्न करने वाली कारकों को पहचान कर निदान कर उनके सहभागिता में वृद्धि करना है।

मुख्य शब्द–कामकाजी महिला, पारिवारिक, कार्यस्थल, घरेलु कार्य, दोहरी भूमिका।

प्रस्तावना–

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही स्त्रियों को देवी का रूप माना जाता है। यदि देखें तो पौराणिक ग्रन्थों, वेद पुराणों में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है कि महिलाओं में संवेदनात्मक की भावना अधिक पायी जाती है जैसे कि दूसरों के प्रति कल्याण स्नेह, करुणा, प्रेम आदि। परंतु यह सब बातें सिर्फ और सिर्फ लोक कथाओं तक ही सीमित रह गया, इसका प्रमुख कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था व संरचना का पूर्ण रूप से पुरुष प्रधान और पित्तृ सत्तात्मक व्यवस्था पर आधारित होना है। भारतीय समाज धर्म, जाति, संस्कृति और रीति रिवाज, परंपरा आदि में विविधता को एकता के रूप में जाना जाता है। इतना होने के बावजूद भी महिलाओं की स्थिति अत्यंत ही दयनीय है। इसका प्रमुख कारण प्राचीन काल से उन्हें स्वतंत्रता ना देकर उनकी स्थिति और भूमिका का निर्धारण समाज में व्याप्त पुरुष प्रधान के हाथों में होता है। यही कारण है कि समाज में उनकी स्थिति और भूमिका घर की चार दिवारियों तक ही सीमित रह गई। यह स्पष्ट रूप से सत्य

है की स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं की स्थिति में बदलाव देखा गया, किंतु यह बदलाव सिर्फ और सिर्फ नाम मात्र का ही रह गया है। आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण और नगरीकरण के विकास ने महिलाओं की प्रस्थिति और भूमिका मूलचूल परिवर्तन हुआ है और महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब वह घरेलू व पारिवारिक कार्यों की जिम्मेदारी के साथ–साथ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रही है और कार्य क्षेत्र में अपनी भूमिका का कुशलतापूर्वक रूप से प्रदर्शन कर रही है। अब वे घरेलू कार्यों के साथ–साथ कार्य स्थल संबंधित कार्यों में भी भागीदारी कर रही हैं, जिससे वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो रही हैं और कार्यस्थल पर अपनी भूमिकाओं को निपुणता से निभा रही हैं, किंतु यदि हम वर्तमान समाज में देखें तो उनके इस कमी का प्रमुख कारण घरेलू पारिवारिक स्थिति और कार्य संबंधित स्थिति में संतुलन की स्थिति व उनके प्रति लोगों का दृष्टिकोण जैसे की महिला कितना भी सफल क्यों ना हो जाए वह उनकी स्थिति पुरुषों की तुलना में निम्न रहेगी और पुरुषों से कमजोर होना होने की धारणा आदि बहुत से ऐसे रूढ़िवादी धारणाएं हैं जो उनके विकास के पद को रोक रही है यदि हम पिछले कुछ दशको में देखे तो ब्रिटिश सरकार से ही भारतीय सामाजिक और आर्थिक स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन पर निश्चित होना प्रारंभ हो चुका था किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही सरकार द्वारा महिलाओं के सामाजिक आर्थिक स्थिति में सुधार लाने हेतु अनेक प्रकार की योजनाएं व कार्यक्रम शुरू किया गया। महिलाओं को उनके अधिकारों और दायित्वों के प्रति जागरूक करते हुए उनकी सोच, जो परंपरागत विचारों से प्रभावित थी उसे दूर किया गया और उन्हें आत्मनिर्भर और स्वालम्बी बनाने हेतु पुरानी पीढ़ीगत परंपराओं, जातिगत विचारों, विवाह प्रर्दा प्रथा आदि को समाप्त किया गया। ताकि उनकी भूमिका व परिस्थिति में परिवर्तन आ सके। कामकाजी महिलाओं से तात्पर्य नौकरी करने वाली महिलाओं के संदर्भ में लिया जाता है अर्थात् महिलाएं जो घर के बाहर नियमित रूप से आर्थिक और व्यावसायिक कार्यों में संलग्न होती है। वर्तमान समय में समाज की जटिलता के कारण महिलाओं का कामकाजी होना एक अनिवार्य तत्व के रूप में परिलक्षित हो रहा है। यही कारण उन्हें दोहरी भूमिका निभाना पड़ता है। एक तरफ घर के कार्य अर्थात पत्नी, माँ गृहिणी आदि की भूमिका की दूसरी और व्यावसायिक कार्यों का भार दोनों भूमिकाओं को पालन करने के कारण उन्हें तनाव की स्थिति वैवाहिक जीवन में संघर्ष का सामना उनकी प्रस्थिति और भूमिकाओं में दृढ़ उत्पन्न कर देता है और भूमिका संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर हो जाती है इतना होने के बाद भी कामकाजी महिलाएं अपने कार्य और गृह कार्य की देखभाल दोनों के बीच समायोजन कर लेती है

सैद्धांतिक परिपेक्ष

किसी भी शोध का सैद्धांतिक परिपेक्ष उसे शोध का विचार और संरचना का मूलभूत ढांचा और पद्धति शास्त्र को एक दृष्टिकोण प्रदान करता है जिससे शोध से संबंधित समस्याओं को समझा जा सके और उसका समाधान किया जा सके। यह शोध कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक कार्यस्थलीय जीवन में संतुलित स्थापित कर विकास पर बल दिया गया है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य – यह परिप्रेक्ष्य इस सिद्धांत पर आधारित है कि कार्यस्थल पर (पुरुषों के लिए) परिवार (महिलाओं के लिए) दो अलग–अलग क्षेत्र को परिभाषित करता है और इन दोनों में ही संतुलन तभी स्थापित किया जा सकता है जब पुरुष और स्त्री अपने स्थिति के आधार पर भूमिकाओं का निर्वाह करें

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य– मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य यह स्पष्ट करता है। कि महिलाओं के बिना सामाजिक विकास और प्रगति असंभव है। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में महिलाओं की दोहरी

शोषण किया जाता है उन्हें एक वस्तुकरण (उत्पादन का साधन के रूप) में समझा जाता था यह दोहरी शोषण मुख्य रूप से पूंजीवादी व्यवस्था और पित्तृसत्तात्मक व्यवस्था पर आधारित था।

सामाजिक तनाव का सिद्धांत–यह सिद्धांत मुख्य रूप से कामकाजी महिलाओं के दोहरी भूमिका के संघर्ष पर केंद्रित है, क्योंकि कामकाजी महिलाओं को घरेलू परिवारिक उत्तरदायित्व के साथ–साथ कार्य स्थल संबंधित दायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता है। यह संघर्ष महिलाओं को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालता था, क्योंकि दोनों भूमिकाओं को निभाने में उन्हें अधिक से अधिक समय और ऊर्जा की आवश्यकता होती है जिसके अनुसार दोनों परिस्थितियों को निभाने के कारण उनमें तनाव की स्थिति पैदा हो जाती थी जो उन्हें शारीरिक और मानसिक बीमारियों से शिकार हो जाती थी।

नारीवादी सिद्धांत– नारीवादी सिद्धांत इस शोध के प्रमुख आधार वस्तु के रूप में माना जाता है यह इस मान्यता पर अधिक जोर देता है कि महिलाओं की भूमिका और प्रस्थिति को समाज द्वारा उपेक्षित किया जाता है और पुरुषों के अधीन उन्हें रेखांकित किया जाता है यह सिद्धांत यह बताता है कि कैसे पति सक्तात्मक व्यवस्था समाज में लैंगिक असमानता आर्थिक शोषण बाजार में महिलाओं के सामने चुनौतियों को बनाए रखना है और महिलाएं कैसी समान वेतन सार्वजनिक अधिकार और कार्य जीवन में कार्य जीवन संतुलन यदि समस्याओं का सामना करती है

कार्य जीवन संतुलन सिद्धांत– कार्य जीवन संतुलन सिद्धांत–जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है यह सिद्धांत कामकाजी महिलाओं को अपने व्यावसायिक और व्यक्तिगत जीवन जैसे– घरेलू कार्यों, परिवार, बच्चों का पालन पोषण, स्वास्थ्य संबंधी कार्यो में सांमजस्य स्थापित करना हैं इसका तात्पर्य यह है कि अपने पारिवारिक घरेलू कार्य पर ध्यान केंद्रित करें जिससे वह अपनी भूमिकाओं में संतुलन स्थापित कर सके।

अध्ययन की सीमा– इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य कामकाजी महिलाओं के परिवार और कार्यस्थल जीवन में संतुलन एक समाजशास्त्री विश्लेषण प्रस्तुत करना है ताकि यह स्पष्ट रूप से पता चल सके की दोनों भूमिकाओं अर्थात दोहरी भूमिका को निभाने में महिलाओं की विभिन्न कठिनाइयो के बावजूद भी वह दोनों क्षेत्रों में अपनी भूमिका को बेहतर रूप से प्रदर्शित कर रही है और आर्थिक व सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर भी हो रही हैं।

- **साहित्य की समीक्षा**

1–सिंह रीता ,सिंह किरण (2024),''कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक समायोजन का एक समाजशास्त्री अध्ययन'', शोध पत्र में यह बताया गया है कि कामकाजी महिलाएं विशेष रूप से समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उनकी भूमिका घरेलू कार्यों तक की सीमित न होकर व्यावसायिक क्षेत्र में भी अपनी योग्यता व प्रतिभा का बेहतर रूप से योगदान करती हैं इस शोध पत्र में मुख्य रूप से कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक संतुलन उनकी दोहरी भूमिका का निर्वहन ,आर्थिक ,सामाजिक ,स्थिति का वर्णन किया गया है

2– कुमारी सिंह ममता, (2021),''कार्यशील महिलाओं के पारिवारिक समायोजन'', प्रस्तुत शोध में यह वर्णन किया गया है की कार्यशील महिलाएँ पारिवारिक संतुलन स्थापित करती है और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर वे सुरक्षा से अपना खर्च और पारिवारिक खर्चे में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान देती हैं परंतु उनके सामने यह समस्या सदैव ही बनी रहती है कि वह अपने घर व बच्चों को उचित समय वह देखभाल नहीं कर पाती है और उनके प्रति अपने दायित्व को भी निभा नहीं कर पाती है

3– कुमारी संगीता, (2020), ''कामकाजी महिलाएंः समस्याएं (वर्तमान परिवेश के संदर्भ में)'', इस शोध पत्र में यह वर्णन किया गया है, कि यदि कामकाजी महिलाएं अपने स्थिति और कार्यों के दायित्वों को निर्वाह करने में असमर्थ होती है, तो उन्हें लोगों खासकर उनके परिवार की तरफ से निंदा का शिकार होना पड़ता है।

वर्तमान समय में कामकाजी महिलाएं घर के कार्य, पति के भार को कम करने, सुख सुविधा संपन्न जीवन व्यतीत करने और कार्य स्थल संबंधी कार्यों में भी निपुणता से अपनी भूमिका का निर्वाह करती है।

4– कुमार प्रवीण, (2019), ''कामकाजी महिलाओं की समस्याएं एक समाजशास्त्री अध्ययन'', इस शोध पत्र में यह बताया गया है कि वर्तमान समय में पुरुषों ने भी महिलाओं के कार्यों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वह स्त्रियों के घरेलू कार्यों में शर्मिंदगी नहीं महसूस करते हैं और गृह प्रबंध संबंधित कार्यों में भागीदारी दे रहे हैं ताकि कामकाजी महिलाओं को सहयोग प्राप्त हो सके।

- **उद्देश्य**

(1) कामकाजी महिलाओं की सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना
(2) कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक सामंजस्य और कार्यस्थल जीवन के मध्य संतुलन स्थापित करने में आने वाली समस्याओं का अध्ययन करना

अध्ययन का विश्लेषण– प्रस्तुत शोध पत्र द्वितीय आंकड़ों पर आधारित है। शोध पत्र में आंकड़ों का संग्रह करने के लिए मुख्य रूप से इंटरनेट, बुक, रिसर्च पेपर, आर्टिकल, समाचार पत्र आदि से लिया गया है

निष्कर्ष–इस शोध पत्र में प्रयुक्त तत्वों का संकलन करने के पश्चात् या विश्लेषित किया गया कि वर्तमान समाज में कामकाजी महिलाओं की संख्या में दिन प्रतिदिन वृद्धि हुई है। वह पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए कार्य स्थल संबंधित दायित्वों को भी बेहतर तरीके से निर्वाह कर रही है और समाज में अपनी एक अलग पहचान बना रही है यह पूर्णतया सत्य बात है कि इन दोनों भूमिकाओं को निर्वाह करने में उन्हें अनेक प्रकार की समस्याएं का सामना करना पड़ता है पर उनको लगता है कि यह समस्याएं कुछ समय के लिए ही है और वह उनका समाधान भी करती हैं।

सन्दर्भ–

- कौर, सुरिंदर, (2021) कामकाजी महिलाओं में कार्य जीवन संतुलनः पंजाब राज्य पर एक अध्ययन, गुरू काशी विश्वविद्यालय, पंजाब
- शर्मा, ओमवती, (2004) कामकाजी शिक्षक महिलाओं के पारिवारिक जीवन दर्शन का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन एटा नगर की शिक्षण संस्थानों के सन्दर्भ में डॉ0 बी आर अबेंडकर विश्वविद्यालय आगरा,
- कुमारी, संगीता, (2020) कामकाजी महिलाएँः समस्याएँ एवं समाधान वर्तमान परिवेश के सन्दर्भ international journal of Applied Research, जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा बिहार
- कुमारी, सिंह ममता (2021) कार्यशील महिलाओं के पारिवारिक समायोजन का अध्ययन IJAAS जय प्रकाश विश्वविद्यालय छपरा बिहार
- कुमार, प्रवीन (2019) कामकाजी महिलाओं को समस्याएँः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन Journal of adwance and ScholerlyResearches inAllied Education, MDU रोहतास
- Bangale Apurva Sabanna Talueer 2023 Problems Pacedby Woman in India:An obstacle for women work participation, International Journal of social science and human Research Rani channmma university Belagavi,
- सिंह रीता, किरण सिंह, 2024 कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक समायोजन का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा, शासकीय कन्या स्नाकोत्तर महाविद्यालय, सतना म. प्र.

- https://share.google/omyiLMcEk1vPgfWaz.
- https://share.google/NE3wMmEbcL5Mm3JDP.
- https://share.google/VMbYpfrDkNo0Hgiio.
- https://share.google/mH44Rv8iyfmckc95Q
- https://share.google/Pze6IV9UnG6y8LDxI
- https://share.google/3G3udOGwooEnbI7Uc

The Opinion Vol.14, No.26 Jan..-June 2025 **ISSN : 2277-9124**
Impact Factor 6.0(IIFS)

सामाजिक मूल्यों पर आधुनिकता का प्रभाव : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

शालिनी विश्वकर्मा
शोध छात्रा
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी, उत्तर प्रदेश 221002

सारांश :–
*भारत के बदलते सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में सामाजिक मूल्यों पर आधुनिकता का प्रभाव के परिणामस्वरुप उत्पन्न विभिन्न समस्याएं एवं सामाजिक संरचना में अवांछित परिवर्तन एक ज्वलंत समस्या है। जिस कारण हमने **'सामाजिक मूल्यों पर आधुनिकता का प्रभाव एक समाजशास्त्रीय अध्ययन'** विषय का चुनाव किया है जिसका मुख्य उद्देश्य यह विश्लेषित करना है कि आधुनिकता की प्रक्रिया ने भारतीय समाज में पारंपरिक सामाजिक मूल्यों को किस प्रकार प्रभावित किया है ? पारंपरिक मूल्य जैसे कि पारिवारिक एकता, सामूहिकता, सम्मान, धर्म परायणता और नैतिकता आदि तथ्य वर्तमान समय में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, उपभोगवाद, तर्कवाद तथा भौतिकवाद प्रकृति के प्रभाव में सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होते जा रहे हैं। आज समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक मूल्य **सहयोग, समानता, न्याय, शांति, दया और सेवा तथा श्रम की गरिमा** पर आधुनिकता का द्वंदात्मक प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। एक ओर जहां आधुनिक शिक्षा, तकनीकी विकास और आधुनिकता ने इन मूल्यों को नए रूपों में परिभाषित किया है, वहीं दूसरी ओर भौतिकवाद और व्यक्तिवाद के बढ़ते प्रभाव ने उनकी प्रासंगिकता को चुनौती भी दी है।*

प्रस्तुत शोध पत्र सामाजिक मूल्यों पर आधुनिकता का प्रभाव एक समाजशास्त्रीय अध्ययन विषय का अनुशीलन द्वितीयक स्रोतों पर आधारित वर्णनात्मक शोध प्रविधि द्वारा किया गया है। यह अध्ययन सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में आधुनिकता और परंपरा के बीच चल रहे द्वंद्व को समझने का एक प्रयास है।

मुख्य बिंदु :– आधुनिकता, सामाजिक मूल्य, सामाजिक संरचना, परिवर्तन।

प्रस्तावना :– मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जो समाज में रहते हुए विभिन्न मूल्यों, परंपराओं, विश्वासों और आचरण संहिताओं के बीच जीवन जीता है। समाज एक गतिशील संरचना है जो समय के साथ–साथ विभिन्न परिवर्तनों से प्रभावित होता है। सामाजिक मूल्य किसी भी समाज की आत्मा होते हैं। जो समाज को नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यावहारिक ढांचे को दिशा प्रदान करते हैं। यह मूल्य न केवल सामाजिक आचरण को नियंत्रित करते हैं बल्कि व्यक्तियों के मध्य सामंजस्य और सहयोग को भी बढ़ावा देते हैं। जैसा कि **इमाइल दुर्खीम** ने कहा है कि **''सामाजिक मूल्य सामूहिक चेतना का निर्माण करते हैं जो किसी समाज के नैतिक एकता का आधार होते हैं।''** दुर्खीम का मत है कि जब समाज में तीव्र परिवर्तन आते हैं तो सामाजिक एकरूपता प्रभावित होती है और **मूल्यों के संकट** की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी संदर्भ में समाजशास्त्र के विशिष्ट चिंतकों में से एक **राधा कमल मुखर्जी** ने मूल्यों को समाज की संरचना और विकास की आत्मा के रूप में वर्णित करते हुए कहा है कि मूल्य ऐसे सांस्कृतिक मानदंड और नैतिक आदर्श होते हैं जो न केवल व्यक्ति के व्यवहार को दिशा प्रदान करते हैं बल्कि समाज को सामाजिक व्यवस्था स्थायित्व समरसता और संतुलन भी प्रदान करते हैं वह मानते हैं कि मूल्य समाज के व्यापक हित और नैतिक उत्तरदायित्व की अभिव्यक्ति होते हैं उन्होंने मानव मूल्य को **'मूल्यपरक संस्कृति'** की संज्ञा दी है।

परन्तु आधुनिकता एक ऐसी ही परिवर्तनकारी प्रक्रिया है जिसने पारंपरिक मूल्यों में गहरे सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक बदलाव उत्पन्न किए हैं। आधुनिकता के संदर्भ में (डीट्रेडीशनलाइजेशन) की चर्चा करते हुए एंथोनी गिडेंस कहते हैं कि **"आधुनिकता एक ऐसा सामाजिक सांस्कृतिक और संस्थागत परिवर्तन है जिसमें व्यक्ति पारंपरिक रीति–रिवाज और आस्थाओं से अलग होकर वैज्ञानिक सोच, तर्कशीलता और आत्म चिंतन पर आधारित जीवन पद्धति अपनाता है।"** इस प्रक्रिया में पारंपरिक सामाजिक मूल्यों की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है और व्यक्ति को अपने निर्णय स्वयं लेने की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। भारतीय समाज लंबे समय से **परंपरा, संयुक्त परिवार प्रणाली, सहयोग, सामंजस्य, एकता, समाजिक सामूहिकता, संबंधों की गरिमा, वृद्धो की सेवा, संबंधों की परायणता तथा अतिथि देवो भवः** जैसे मूल्यों से संचालित होता रहा है, परंतु अब आधुनिकता के प्रभाव से सामाजिक मूल्यों में जो परिवर्तन देखे जा रहे हैं वह **व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बढ़ती भावना, एकल परिवारों का प्रचलन, विवाह में स्थायित्व की कमी, संबंधों की मर्यादा का ह्रास, धार्मिक आयोजन की रुचि में कमी, संबंधों की समरसता में कमी, उचित सामाजीकारण का गिरता स्तर तथा बुजुर्गों के प्रति घटती संवेदना** है। लेकिन आधुनिकता ने समाज को नए सामाजिक रूपों और आचरण मानकों की ओर अग्रसर किया है। **मैक्स बेबर** ने इस संबंध में आधुनिकता को एक **तर्कसंगत व्यावसायिक नैतिकता** के रूप में देखा जिसने समाज को परंपरा से अलग कर वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित किया। आज हमारा समाज आधुनिकता और परंपरा के मध्य द्वंद्व की लड़ाई लड़ रहा है। जिसे **योगेंद्र सिंह** ने अपनी पुस्तक **मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन** मैं बताया है कि भारतीय समाज एक **संक्रमणशील समाज** है, जहां परंपरा और आधुनिकता दोनों की उपस्थिति समाज के प्रत्येक रूपों में समानांतर देखी जा सकती है।

इस शोध पत्र का उद्देश्य यह समझना है कि आधुनिकता ने भारतीय समाज के सामाजिक मूल्यों को किस प्रकार प्रभावित किया है ? क्या यह प्रभाव सामाजिक मूल्यों के लिए विघटनकारी है या पुनर्निर्माणकारी ? क्या समाज के पारंपरिक मूल्य पूर्णतया समाप्त हो रहे हैं या वह नए रूपों में स्थापित हो रहे हैं ? यह अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्य परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेगा और यह विश्लेषित करेगा कि समाज किस प्रकार परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाने का प्रयास कर रहा है।

साहित्य समीक्षा :– प्रत्येक शोध बिना साहित्य समीक्षा के वैज्ञानिक एवं अपूर्ण माना जाता है। साहित्य सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य शोध विषय से संबंधित पूर्ववर्ती अध्ययनों, शोध पत्रों, पुस्तकों, सैद्धांतिक दृष्टिकोण और अनुभवजन्य निष्कर्षों का विश्लेषण करना होता है। यह खंड संबंधित शोध विषय के ज्ञान अंतरालों को रेखांकित करने में सहायक होता है, जिससे वर्तमान समय की आवश्यकता को और स्पष्ट किया जा सकें। शोध विषय से संबंधित साहित्य की समीक्षाएं इस प्रकार है.....

1. **राधा कमल मुखर्जी** द्वारा रचित पुस्तक *'The Social Structure of Values'* (1949) में उन्होंने सामाजिक मूल्यों की संरचना और उनके क्रियाशील स्वरूप का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में मुखर्जी ने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह स्पष्ट किया है कि मूल्य केवल व्यक्तिगत आस्थाएँ नहीं होते, बल्कि वे सामाजिक व्यवस्था के आधार स्तंभ होते हैं, जो सांस्कृतिक निरंतरता और नैतिक अनुशासन को बनाए रखते हैं। वे मूल्यों को सामाजिक जीवन की आत्मा मानते हैं, जो व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित करते हैं।

2. **इमाइल दुर्खीम** द्वारा रचित पुस्तक *'The Division of Labour in Society'* (1893) समाजशास्त्र की बुनियादी ग्रंथों में से एक मानी जाती है। इस पुस्तक में दुर्खीम ने आधुनिक समाज के श्रम के विभाजन को सामाजिक एकजुटता की दृष्टि से विश्लेषित किया है। उनका मानना है कि पारंपरिक समाजों में यांत्रिक एकजुटता के कारण सामानता के आधार पर सभी एक दूसरे से जुड़े होते हैं ,जबकि आधुनिक औद्योगिक समाज में जैविक एकजुटता होती है, जो विभाजित और विशिष्ट आधारित समाज का निर्माण करती है। यह पुस्तक समाज के संक्रमणशील स्वरूप को समझने के लिए एक गहन सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करती है।
3. **डॉ. जयराम बैरवा** द्वारा रचित शोध पत्र **'मूल्यों का संकट एक सामाजिक समस्या' (2017)** मैं आधुनिक भारतीय समाज में नैतिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक मूल्यों में हो रहे हस को गंभीर सामाजिक संकट के रूप में वर्णित किया गया है। लेखक का मत है कि उपभोगवाद, व्यक्तिगत स्वार्थ और तीव्र गति से बढ़ते आधुनिकीकरण ने सामाजिक मूल्यों को कमजोर किया है जिससे सामाजिक अव्यवस्था, नैतिक भ्रम और पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो रही है।
4. **एंथोनी गिडिंस** द्वारा रचित पुस्तक *'Modernity and Self Identity' (1991)* में डीट्रेडीशनलाइजेशन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि पारंपरिक समाजों में आत्म पहचान स्थिर सांस्कृतिक परंपराओं और सामाजिक भूमिकाओं द्वारा निर्धारित होती थी। जहां व्यक्ति को उसके समुदाय और वंश पर आधारित पहचान दी जाती थी। वही आधुनिकता के आधार पर यह पहचान व्यक्तिगत चयन, आत्म चिंतन और सामाजिक गतिशीलता पर आधारित हो गई है। यह पुस्तक आधुनिकता और पारंपरिक मूल्यों के बीच संघर्ष को उजागर करती है।
5. **योगेंद्र सिंह** की प्रमुख कृतियों में से एक **'मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन' (2006)** में भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों की जटिलता को गहराई से विश्लेषित किया गया है। यह पुस्तक एभारतीय सामाजिक संरचना, परंपरा, धर्म, जाति, परिवार तथा सामाजिक–आर्थिक संस्थानों में हो रहे परिवर्तनों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करती है। उन्होंने भारतीय परंपरा पर पश्चिमी प्रभाव, सांस्कृतिक परिवर्तन और वैश्वीकरण के परिणामस्वरुप हो रहे तीव्र परिवर्तनों पर भी जोर डाला है।
6. **मैक्स वेबर** द्वारा रचित पुस्तक *'The Protestant Ethics and the Spirit of Capitalism'* **(1905)** सामाजिक मूल्यों के परिपेक्ष्य में यह दर्शाती है कि आधुनिक पूंजीवाद समाज केवल धार्मिक ढांचाओं पर नहीं बल्कि विशिष्ट नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों पर भी आधारित है। बेबर के अनुसार प्रोटेस्टेंट विशेष रूप से केल्विनवादी धार्मिक विचारधारा ने कठोर श्रम अनुशासन, समयबद्धता, बचत और पुनर्निवेश जैसे सामाजिक मूल्यों को धार्मिक आस्था से जोड़ दिया जिससे 'तर्कसंगत व्यावसायिक नैतिकता' का उदय हुआ। परिणाम स्वरुप परंपरागत सामाजिक मूल्य जैसे सामूहिकता, धार्मिक क्रियाकलाप और भाग्यवाद धीरे–धीरे क्षीण होते गए और आधुनिकता ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व, तर्कशीलता और व्यावसायिक नैतिकता को केंद्र में ला खड़ा कर दिया है।

मूल्य परिवर्तन की प्रवृत्ति :– आधुनिकता के प्रभाव स्वरूप सामाजिक मूल्य में परिवर्तन की प्रक्रिया एक निरंतर चलने वाली सामाजिक– सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जिसे हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से **मूल्य परिवर्तन की प्रवृत्ति** के रूप में पहचानते हैं। परंपरागत भारतीय समाज में मूल्य अधिकांशतः धार्मिक, सामूहिक और रूढ़िवादी होते थे, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहे। परंतु आधुनिकतावादी युग में विशेष कर शिक्षा, शहरीकरण, प्रौद्योगिकी और वैश्वीकरण के प्रभाव से इन मूल्यों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। आज के वर्तमान समय में

व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्वयं का निर्णय, समयबद्धता, व्यावसायिक नैतिकता और तर्कशीलता जैसे आधुनिक मूल्यों की महत्ता बढ़ गई है। साथ ही परंपरागत मूल्य जैसे संयुक्त परिवार का एकल परिवार में बदलता स्वरूप, बड़ों का वर्चस्व, धार्मिक आस्था, सामूहिक निर्णय, वृद्धो की उपेक्षा तथा संबंधों की मर्यादा का ह्रास संबंधी मूल्य आज के आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में पारंपरिक मूल्यों के क्षरण को दर्शाते हैं। यह परिवर्तन व्यक्ति के व्यवहार, सोच और दृष्टिकोण में भी देखा जा सकता है।

हालांकि यह परिवर्तन एकतरफा नहीं है। यह वर्ग, लिंग, क्षेत्र और संस्कृति के अनुसार भिन्न–भिन्न रूपों में परिलक्षित होता है। अंततः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता की यह प्रवृत्ति केवल मूल्य हास का संकेत नहीं देती बल्कि पारंपरिक मूल्यों के पुनर्निर्माण को दर्शाती है। समाज इन आधुनिकतावादी और पारंपरिक मूल्यों के मध्य अनुकूलन करते हुए सामाजिक मूल्यों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास कर रहा है।

आधुनिकता के प्रमुख कारक और उनका प्रभावः– आधुनिकता एक सतत सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है, जो परंपरागत संरचनाओं, विश्वासों और मूल्यों को नए विचारों और संस्थाओं के माध्यम से पुनः परिभाषित करती है। आधुनिकता के प्रमुख कारकों में औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, वैश्वीकरण और संचार क्रांति शामिल है। औद्योगिककरण ने श्रम के स्वरूप को बदलते हुए व्यक्तियों को आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाया और पारंपरिक उद्योग कार्य प्रणाली को पीछे छोड़ दिया है। भारत में नगरीकरण ने ग्रामीण जीवन की सामूहिकता को तोड़ते हुए व्यक्तिवाद की भावना, औपचारिक संबंध और एकल परिवार व्यवस्था को अधिक बढ़ावा दिया है, जिससे सामूहिकता तथा संबंधों के मध्य समरसता की भावना क्षीण होती जा रही है तथा पारंपरिक सहयोग और सामाजिक समर्थन की संरचनाएं कमजोर पड़ने लगी है। शिक्षा और वैज्ञानिक दृ ष्टिकोण ने अंधविश्वास, रूढ़िगत विचारधारा और जातिगत भेदभाव को चुनौती दी है। वही, वैश्वीकरण और मीडिया की भूमिका ने व्यक्ति के जीवन को पूर्णतः भौतिकवादी और उपभोगवादी संस्कृति की ओर अग्रसर किया है। आधुनिकता के इन सभी कारकों ने भारतीय समाज की संरचना के साथ–साथ उनके नैतिक और सांस्कृतिक जड़ों को भी गहराई से प्रभावित किया है।

इन सभी आधुनिक कारकों का सामाजिक मूल्यों पर मिला–जुला प्रभाव विघटनकारी एवं पुनर्निर्माणकारी दोनों रूपों में देखा जा सकता है। एक ओर आधुनिकता ने समानता, स्वतंत्रता, मानवाधिकार, लैंगिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता जैसे प्रगतिशील मूल्यों को प्रोत्साहित किया हैय वहीं दूसरी ओर, पारंपरिक मूल्यों जैसे संयुक्त परिवार, बड़ों का सम्मान, सामूहिकता, धार्मिक आस्था, संबंधों की मर्यादा, वृद्धों की सेवा एवं नैतिक अनुशासन में स्पष्ट रूप से गिरावट देखी जा सकती है। संबंधों की आत्मीयता में कमी, विवाह से पूर्व संबंधों की वृद्धि, विवाह संस्था की स्थिरता में कमी और नैतिक भ्रांतियों जैसे संकट भी सामने आए हैं। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि आधुनिकता जहाँ समाज को वैज्ञानिक, तकनीकी और वैचारिक रूप से उन्नत बनाती है, वहीं यह पारंपरिक मूल्य संरचनाओं को चुनौती भी देती है। अतः यह आवश्यक है कि समाज आधुनिकता और परंपरा के बीच संतुलन एवं समायोजन स्थापित कर सामाजिक मूल्यों को जीवंत बनाए रखे।

वर्ग, जाति लिंग और क्षेत्रीय विभेद में मूल्य प्रभाव :– भारतीय समाज विविध प्रकार की सामाजिक संरचनाओं से गठित है, जिनमें मुख्यतः वर्ग, जाति, लिंग तथा क्षेत्रीय पहचान जैसे तत्व सम्मिलित हैं। ये तत्व समाज में व्याप्त मूल्य प्रणाली को न केवल आकार देते हैं, बल्कि उसकी दिशा भी निर्धारित करते हैं। उच्च वर्ग में भौतिक संपन्नता, प्रतिस्पर्धा, स्व–अभिव्यक्ति की भावना तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे आधुनिक मूल्य प्रबल रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसके विपरीत, निम्न वर्ग आज भी सामूहिकता, आपसी सहयोग, परंपरागत विश्वासों एवं धार्मिकता जैसे परंपरागत मूल्यों के आधार पर संचालित होता है। जातीय संरचना के परिप्रेक्ष्य में देखा

जाए तो उच्च जातियों में सामाजिक श्रेष्ठता की भावना, सांस्कृतिक परंपराओं के संरक्षण की प्रवृत्ति तथा उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा स्थापित करने की आकांक्षा प्रमुख रूप से पाई जाती है । इसके विपरीत, वंचित जातियाँ समानता, न्याय और अधिकारों की प्राप्ति जैसे नव मूल्य अधिक महत्व के रूप में ग्रहण करती हैं।

भारत जैसे लिंग और क्षेत्रीय विभेद आधारित देश में मूल्य–प्रणाली में असमानता देखने को मिलती है। भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं से आज्ञाकारिता, त्याग और लज्जा जैसे परंपरागत मूल्यों की अपेक्षा की जाती है, जबकि पुरुषों से नेतृत्व, निर्णय और प्रभुत्व संबंधी मूल्यों की अपेक्षा की जाती है। इसी संदर्भ में जब शहरी क्षेत्रों में मूल्यों की चर्चा की जाती है, तो महिलाएँ आत्मनिर्भरता तथा समानता संबंधी मूल्यों के साथ उभरकर सामान्य निर्णय, स्वतंत्रता तथा औद्योगिक भूमिकाओं में सक्रिय सहभागिता की प्रतीक बनकर सामने आती हैं, जिससे पारंपरिक लिंग भूमिकाओं में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वहीं, ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी परंपरागत लिंग–आधारित मूल्य अधिक प्रबल हैं। भारत में क्षेत्रीय विविधता के कारण संस्कृति, रीति–रिवाज, परंपरा, भाषा एवं धार्मिक आस्था आधारित मूल्य–दृष्टिकोण में स्पष्ट भिन्नता पाई जाती है।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि वर्ग, जाति, लिंग तथा क्षेत्रीय भेद मूल्य–आधारित दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं और सामाजिक असमानता को बनाए रखते हैं। समाज में मूल्यों पर आधारित भिन्नताओं के कारण सामाजिक तनाव और अव्यवस्था की स्थिति बनी रहती है। इन सभी मूल्य–असमानताओं के कारण समाज में मूल्य–संकट की स्थिति उत्पन्न होती है, जहाँ मूल्य–समायोजन में बाधा तथा मूल्य–तनाव संबंधी समस्याओं का जन्म होता है।

सामाजिक मूल्यों पर आधुनिकता का कासकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव :– भारतीय समाज में सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने वाले महत्वपूर्ण आधार तत्वों में सामाजिक मूल्य एक केंद्रीय भूमिका निभाते हैं, जो समाज के सुचारू संचालन में सहायक होते हैं। इन सामाजिक मूल्यों के विकास एवं पुनर्रचना में आधुनिकता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आधुनिकता के प्रभाव के कारण समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्कसंगतता तथा उदारवादी विचारधारा का तीव्र गति से प्रसार हुआ है, जिससे परंपरावादी एवं संकीर्ण विचारधाराओं को चुनौती मिली है। वर्तमान समय में समानता, स्वतंत्रता तथा मानवाधिकार जैसे प्रगतिशील मूल्यों को विशेष बल प्रदान किया जा रहा है। शिक्षा और सूचना क्रांति के प्रभाव से व्यक्तियों में जागरूकता, आत्मनिर्भरता तथा आलोचनात्मक चिंतन की प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय और लैंगिक समानता की अवधारणा और अधिक सुदृढ़ हुई है। आज की महिलाएं केवल पारंपरिक घरेलू भूमिकाओं तक सीमित न रहकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय सहभागिता निभा रही हैं तथा वैश्विक मंच पर प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान कर रही हैं।

जहाँ आधुनिकता ने सामाजिक मूल्यों में प्रगतिशीलता को बढ़ावा दिया है, वहीं इसके कारण परंपरागत नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास भी हुआ है। भौतिकवाद, उपभोगवाद और प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति ने सहयोग, त्याग और सामूहिकता जैसे मूल्यों को हाशिए पर ला खड़ा किया है। संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन और शहरी जीवन की व्यस्तता ने पारिवारिक संबंधों में जटिलता उत्पन्न कर दी है। पश्चिमी जीवन शैली के अंधानुकरण ने नैतिकता और मर्यादा जैसे मूल्यों को नैपथ्य में डाल दिया है। आधुनिक तकनीक और सोशल मीडिया ने जहाँ संवाद और संपर्क को आसान बनाया है, वहीं व्यक्तिगत संबंधों की गहराई और संवेदनाओं को केवल स्वार्थ में परिवर्तित कर दिया है।

नव मूल्य चेतना और सामाजिक सरोकार :– वर्तमान समय में नव मूल्य चेतना समाज में उत्पन्न हो रही एक नवीन वैचारिक प्रवृत्ति है, जो पारंपरिक मूल्यों के संरक्षण के साथ–साथ आधुनिक युग की आवश्यकताओं और

चुनौतियों के अनुरूप नए मूल्यों का निर्माण करती है। यह चेतनात्मक प्रवृत्ति व्यक्ति को **सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता, मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण तथा लोकतांत्रिक आदर्शों के प्रति अधिक संवेदनशील** बनाती है। नव मूल्य चेतना का प्रभाव केवल व्यक्तिगत विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका प्रमुख उद्देश्य सामूहिक कल्याण एवं सामाजिक समरसता की भावना का निर्माण करना है।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम नव मूल्य चेतना के सामाजिक सरोकारों की चर्चा करें, तो स्पष्ट होता है कि ये सरोकार समाज की प्रमुख समस्याओं जैसे :– **गरीबी, अशिक्षा, लैंगिक असमानता, पर्यावरणीय असंतुलन और नैतिक मूल्यों के क्षरण** के समाधान हेतु जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना को प्रेरित करते हैं। इस चेतना को विकसित करने और प्रसारित करने में शिक्षा, मीडिया और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन माध्यमों ने नागरिकों को अधिक प्रगतिशील, जागरूक एवं उत्तरदायी बनाकर उन्हें समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझने और निभाने हेतु प्रेरित किया है। इस प्रकार, नव मूल्य चेतना और सामाजिक सरोकार आधुनिक समाज में मानवीय मूल्यों के पुनःसंरचना और सामाजिक विकास की आधारशिला के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

निष्कर्ष :– उपर्युक्त वर्णित तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिकता ने भारतीय समाज की सामाजिक मूल्य संरचना में गहन परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा का प्रसार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सूचना तकनीकी के विकास ने जहां व्यक्तिवाद, तर्कशीलता तथा भौतिकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया है, वहीं पारंपरिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक मान्यताओं को चुनौती भी दी है। यह प्रक्रिया एक ओर समाज में समानता, स्वतंत्रता, लैंगिक न्याय, आत्मनिर्भरता और मानवाधिकार जैसे प्रगतिशील मूल्यों को सशक्त करती है, तो दूसरी ओर संयुक्त परिवार, परंपरा, धार्मिक आस्था और नैतिक मर्यादा जैसे परंपरागत मूल्यों में ह्रास का कारण बनती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता का प्रभाव द्वैध स्वरूप लिए हुए है एक ओर इसने सामाजिक मूल्यों को लचीला, समसामयिक तथा तर्कसंगत बनाया है, तो दूसरी ओर मूल्य संकट की स्थिति उत्पन्न कर दी है, जिससे सामाजिक असंतुलन एवं सांस्कृतिक विचलन की प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। इस प्रकार, भारतीय समाज की मूल सामाजिक संरचना में आधुनिकता ने न केवल नव मूल्य चेतना का संचार किया है, अपितु परंपरागत मूल्य–व्यवस्था को पुनः परिभाषित करने की चुनौती भी प्रस्तुत की है।

सुझाव :–

1. पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सामाजिक स्थिरता और प्रगति को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
2. शिक्षा प्रणाली में मूल्य परक शिक्षा का समावेश किया जाना चाहिए।
3. सोशल मीडिया के द्वारा सामाजिक मूल्यों की संरक्षण और संवर्धन संबंधी सामग्री का प्रसारण किया जाना चाहिए।
4. सरकारी नीतियों और कार्यक्रमों के निर्माण में सामाजिक मूल्यों को केंद्र में रखा जाना चाहिए।
5. बच्चों के समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक मूल्य संबंधी शिक्षा को आत्मसात कराया जाना चाहिए ।

संदर्भ ग्रंथ :–

1- Mukherjee, R. K. (1949) *'The Structure of Social Values'*, Macmillan, London, pp. 26-28.
2- Anthony, Giddens (1991). *'Modernity and Self Identity'*, Stanford University press, California, pp. 5-8.
3- Durkheim, Emile, (1893). *'The Division of labour in Society'*, Paris Alcan, Paris, p. 133.
4- Weber, Max, (1968). *'Economy and Society'* (Rooth and Wittich), 1922. Bedminister Press, New York, pp. 215-216.
5- Singh, Yogendra, (1973). Modernisation of Indian Tradition, Thomson Press, Delhi.
6. बैरवा, जयराम, (2017). *'मूल्यों का संकट एक सामाजिक समस्या'* इंटरनेशनल जर्नल ऑफ रिसर्च एंड एनालिटिकल रिव्यूस, वॉल्यूम– 4. पृ.सं. 721–726.
7. रूस्तगी, कविता, (2024). *'आधुनिक भारत के वर्तमान परिदृश्य में नैतिकता का ह्रास एक समाजशास्त्रीय अध्ययन'* आलोचना जर्नल, वॉल्यूम – 13. पृ. सं. 45–58.
8. वंशकार, राखी, (2023). *'आधुनिकीकरण की अवधारणा और भारतीय समाज'*, टीआईजेईआर – इंटरनेशनल जर्नल, वॉल्यूम – 4. पृ. सं. 185–188.
9. आहूजा, राम, (2000). *'भारतीय समाज'* रावत पब्लिकेशन , जयपुर, पृ. सं. 25–27.
10. अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, (2017). *'समाजशास्त्र'*. एसबीपीडी पब्लिकेशन, आगरा, पृ. सं. 181–185.
11. चौधरी, राजेश कुमार, (2019). *'भारत में शिक्षा एवं आधुनिकीकरण'*, आईजेएआरआइआइई, वॉल्यूम – 5. पृ. सं. 1630–1636.
12. गोयल, अनुराधा, (2017). *'आधुनिकीकरण का समाज पर प्रभाव'* , इंटरनेशनल जर्नल ऑफ अप्लाइड रिसर्च , वॉल्यूम –3 . पृ. सं. 903– 906.